ग्रन्थ-संख्या—७२

प्रकाशक तथा विक्रेता
भारती-भण्डार
लीडर प्रेस,
प्रयाग

द्वितीय संस्करण
मूल्य १॥)
सं० '९९,

मुद्रक—
कृष्णाराम मेहता,
लीडर प्रेस, इलाहाबाद

निवेदन

ग्राम्या में मेरी युगवाणी के बाद की रचनाएँ संग्रहीत हैं। इनमें पाठकों को ग्रामीणो के प्रति केवल बौद्धिक सहानुभूति ही मिल सकती है। ग्राम जीवन में मिल कर, उसके भीतर से, ये अवश्य नहीं लिखी गई हैं। ग्रामो की वर्तमान् दशा में वैसा करना केवल प्रतिक्रियात्मक साहित्य को जन्म देना होता। 'युग' 'संस्कृति' आदि शब्द इन रचनाओं में वर्तमान और भविष्य दोनो के लिए प्रयुक्त हुए हैं, जिसे समझने में पाठकों को कठिनाई नहीं होगी ; ग्राम्या की पहिली कविता 'स्वप्न पट' से यह बात स्पष्ट हो जाती है। 'बापू' और 'महात्मा जी के प्रति,' 'चरख़ा गीत' और 'सूत्रधर' जैसी कुछ कविताओ में बाहरी दृष्टि से एक विचार वैषम्य जान पड़ता है, पर यदि हम 'आज' और 'कल' दोनों की दृष्टि से देखेंगे तो वह विरोध नहीं रहेगा।

अंत में मेरा निवेदन है कि ग्राम्या में ग्राम्य दोषो का होना अत्यन्त स्वाभाविक है, सहृदय पाठक उनसे विचलित न हों।

नक्षत्र,
कालाकाँकर (अवध)
१ मार्च १९४०

श्री सुमित्रानंदन पंत

सूची

ग्राम्या

स्वप्न पट

ग्राम नहीं वे ग्राम आज
औ' नगर न नगर जनाकर,
मानव कर से निखिल प्रकृति जग
संस्कृत, सार्थक, सुदर ।

देश राष्ट्र वे नहीं,
जीर्ण जग पतझर त्रास समापन,
नील गगन है : हरित धरा :
नव युग : नव मानव जीवन ।

आज मिट गए दैन्य दुःख,
सब क्षुधा तृषा के क्रदन,
भावी स्वप्नो के पट पर
युग जीवन करता नर्तन ।

डूब गए सब तर्क वाद,
सब देशो राष्ट्रो के रण,
डूब गया रव घोर क्राति का,
शात विश्व सघर्षण ।

जाति वर्ण की, श्रेणि वर्ग की
तोड़ भित्तियाँ दुर्धर
युग युग के वंदीगृह से
मानवता निकली बाहर।

नाच रहे रवि शशि,
दिगंत मे,—नाच रहे ग्रह उड़गण,
नाच रहा भूगोल,
नाचते नर नारी हर्षित मन।

फुल्ल रक्त शतदल पर शोभित
युग लक्ष्मी लोकोज्वल
अयुत करों से लुटा रही
जन हित, जन वल, जन मगल !

ग्राम नहीं वे, नगर नहीं वे,—
मुक्त दिशा औ' क्षण से
जीवन की क्षुद्रता निखिल
मिट गई मनुज जीवन से।

[दिसबर '३९]

ग्राम कवि

यहाँ न पल्लव वन में मर्मर,
यहाँ न मधु विहगो मे गुंजन,
जीवन का संगीत बन रहा
यहाँ अतृप्त हृदय का रोदन !

यहाँ नहीं शब्दो मे बँधती
आदर्शों की प्रतिमा जीवित,
यहाँ व्यर्थ है चित्र गीत में
सुदरता को करना सचित!

यहाँ धरा का मुख कुरूप है,
कुत्सित गर्हित जन का जीवन,
सुदरता का मूल्य वहाँ क्या
जहाँ उदर है क्षुब्ध, नग्न तन ?—

जहाँ दैन्य जर्जर असंख्य जन
पशु-जघन्य क्षण करते यापन,
कीड़ों-से रेगते मनुज शिशु,
जहाँ अकाल वृद्ध है यौवन !

सुलभ यहाँ रे कवि को जग मे
युग का नहीं सत्य शिव सुंदर,
कँप कँप उठते उसके उर की
व्यथा विमूर्छित वीणा के स्वर !

दिसंबर '३९]

ग्राम

वृहद् ग्रंथ मानव जीवन का, काल ध्वंस से कवलित,
ग्राम आज है पृष्ठ जनों की करुण कथा का जीवित!
युग युग का इतिहास सभ्यताओं का इसमें संचित,
संस्कृतियों की ह्रास वृद्धि जन शोषण से रेखांकित।

हिंस्र विजेताओं, भूपों के आक्रमणों की निर्दय
जीर्ण हस्तलिपि यह नृशंस गृह संघर्षों की निश्चय!
धर्मों का उत्पात, जातियों वर्गों का उत्पीड़न,
इसमें चिर संकलित रूढ़ि, विश्वास, विचार सनातन।
घर घर के बिखरे पन्नों में नग्न, क्षुधार्त कहानी,
जन मन के दयनीय भाव कर सकती प्रकट न वाणी।
मानव दुर्गति की गाथा से ओत प्रोत मर्मांतक
सदियों के अत्याचारों की सूची यह रोमांचक!

मनुष्यत्व के मूलतत्व ग्रामों ही में अंतर्हित,
उपादान भावी संस्कृति के भरे यहाँ हैं अविकृत।
शिक्षा के सत्याभासों से ग्राम नहीं हैं पीड़ित,
जीवन के संस्कार अविद्या-तम में जन के रक्षित।

जनवरी '४०]

ग्राम दृष्टि

देख रहा हूँ आज विश्व को मै ग्रामीण नयन से,
सोच रहा हूँ जटिल जगत पर, जीवन पर जन मन से।
ज्ञान नहीं है, तर्क नहीं है, कला न भाव विवेचन,
जन हैं, जग है, क्षुधा काम, इच्छाएँ, जीवन साधन।
रूप जगत है, रूप दृष्टि है, रूप बोधमय है मन,
माता पिता, बंधु बाधव, परिजन, पुरजन, भू, गो धन।
रूढि रीतियो के प्रचलित पथ, जाति पाँति के बंधन,
नियत कर्म हैं, नियत कर्म फल,—जीवन चक्र सनातन।
जन्म मरण के, सुख दुख के ताने वानों का जीवन,
निठुर नियति के धूपछाँह जग का रहस्य है गोपन!

देख रहा हूँ निखिल विश्व को मै ग्रामीण नयन से,
सोच रहा हूँ जग पर, मानव जीवन पर जन मन से।
रूढ़ि नहीं हैं, रीति नहीं हैं, जाति वर्ण केवल भ्रम,
जन जन मे है जीव, जीव जीवन में सब जन हैं सम।
ज्ञान वृथा है, तर्क वृथा, संस्कृतियाँ व्यर्थ पुरातन,
प्रथम जीव है मानव मे, पीछे है सामाजिक जन।
मनुष्यत्व के मान वृथा, विज्ञान वृथा रे दर्शन,
वृथा धर्म, गण तत्र,—उन्हे यदि प्रिय न जीव जन जीवन!

दिसंबर '३९]

ग्राम चित्र

यहाँ नहीं है चहल पहल वैभव विस्मित जीवन की,
यहाँ डोलती वायु म्लान सौरभ मर्मर ले वन की।
आता मौन प्रभात अकेला, संध्या भरी उदासी,
यहाँ घूमती दोपहरी में स्वप्नों की छाया सी।
यहाँ नहीं विद्युत् दीपों का दिवस निशा में निर्मित,
अँधियाली में रहती गहरी अँधियाली भय-कल्पित।

यहाँ खर्व नर (वानर?) रहते युग युग से अभिशापित,
अन्न वस्त्र पीड़ित असभ्य, निर्बुद्धि, पंक में पालित।
यह तो मानव लोक नहीं रे, यह है नरक अपरिचित,
यह भारत का ग्राम,—सभ्यता, संस्कृति से निर्वासित!
झाड़ फूँस के विवर,—यही क्या जीवन शिल्पी के घर?
कीड़ों-से रेंगते कौन ये? बुद्धिप्राण नारी नर?
अकथनीय क्षुद्रता, विवशता भरी यहाँ के जग में,
गृह गृह में है कलह, खेत में कलह, कलह है मग में!

यह रवि शशि का लोक,—जहाँ हँसते समूह में उडुगण,
जहाँ चहकते विहग, बदलते क्षण क्षण विद्युत् प्रभ घन।
यहाँ वनस्पति रहते, रहती खेतों की हरियाली,
यहाँ फूल हैं, यहाँ ओस, कोकिला, आम की डाली!
ये रहते हैं यहाँ,—और नीला नभ, बोई धरती,
सूरज का चौड़ा प्रकाश, ज्योत्स्ना चुपचाप विचरती!
प्रकृति धाम यह: तृण तृण, कण कण जहाँ प्रफुल्लित जीवित,
यहाँ अकेला मानव ही रे चिर विषण्ण जीवन्मृत!!

[दिसंबर '३९]

ग्राम युवती

उन्मद यौवन से उभर
घटा सी नव असाढ़ की सुंदर,
अति श्याम वरण,
श्लथ, मंद चरण,
इठलाती आती ग्राम युवति
वह गजगति
सर्प डगर पर!

सरकाती-पट,
खिसकाती-लट,—
शरमाती झट
वह नमित दृष्टि से देख उरोजों के युग घट!
हँसती खलखल
अबला चंचल
ज्यों फूट पड़ा हो स्रोत सरल
भर फेनोज्वल दशनों से अधरो के तट!

वह मग में रुक,
मानो कुछ झुक,
आँचल सँभालती, फेर नयन मुख,
पा प्रिय पद की आहट;
आ ग्राम युवक,
प्रेमी याचक,
जब उसे ताकता है इकटक,

उल्लसित,
चकित,
वह लेती मूँद पलक पट।

पनघट पर
मोहित नारी नर!—
जब जल से भर
भारी गागर
खींचती उबहनी वह, बरबस
चोली से उभर उभर कसमस
खिंचते सँग युग रस भरे कलश;—
जल छलकाती,
रस बरसाती,
बलखाती वह घर को जाती,
सिर पर घट
उर पर धर पट!

कानों में गुड़हल
खोंस,—धवल
या कुँई, कनेर, लोध पाटल;
वह हरसिंगार से कच सँवार,
मृदु मौलसिरी के गूँथ हार,
गउओं सँग करती वन विहार,
पिक चातक के सँग दे पुकार,—
वह कुंद, काँस से,
अमलतास से,
आम्र मौर, सहजन, पलाश से,
निर्जन में सजती ऋतु सिंगार।

ग्राम युवती

तन पर यौवन सुषमाशाली,
मुख पर श्रमकण, रवि की लाली,
सिर पर धर स्वर्ण शस्य डाली,
वह मेंडो पर आती जाती,
उरु मटकाती,
कटि लचकाती,
चिर वर्षातप हिम की पाली
धनि श्याम वरण,
अति क्षिप्र चरण,
अधरो से धरे पकी बाली।

रे दो दिन का
उसका यौवन !
सपना छिन का
रहता न स्मरण !
दुःखो से पिस,
दुर्दिन मे घिस,
जर्जर हो जाता उसका तन !
ढह जाता असमय यौवन धन !
बह जाता तट का तिनका
जो लहरो से हँस-खेला कुछ क्षण !!

दिसंबर '३९]

ग्राम नारी

स्वाभाविक नारी जन की लज्जा से वेष्टित,
नित कर्म निष्ठ, अंगों की हृष्ट पुष्ट सुन्दर,
श्रम से हैं जिसके क्षुधा काम चिर मर्यादित,
वह स्वस्थ ग्राम नारी, नर की जीवन सहचर।

वह शोभा पात्र नहीं कुसुमादपि मृदुल गात्र,
वह नैसर्गिक जीवन संस्कारों से चालित;
सत्याभासों में पली न छाया मूर्ति मात्र,
जीवन रण में सक्षम, संघर्षों से शिक्षित।

वह वर्ग नारियों सी न सुघर, संस्कृत कृत्रिम,
रंजित कपोल भ्रू अधर, अंग सुरभित वासित;
छाया प्रकाश की सृष्टि,—उसे सम ऊष्मा हिम,
वह नहीं कुलों की काम वंदिनी अभिशापित!

स्थिर, स्नेह स्निग्ध है उसका उज्वल दृष्टिपात,
वह द्वन्द्व ग्रंथि से मुक्त मानवी है प्राकृत,
नागरियों का नट रंग प्रणय उसको न ज्ञात,
संमोहन, विभ्रम, अंग भंगिमा में अपठित।

उसमें यत्नों से रक्षित, वैभव से पोषित
सौन्दर्य मधुरिमा नहीं, न शोभा सौकुमार्य,
वह नहीं स्वप्नजायिनी प्रेयसी ही परिचित,
वह नर की सहधर्मिणी, सदा प्रिय जिसे कार्य।

पिक चातक की मादक पुकार से उसका मन
हो उठता नहीं प्रणय स्मृतियों से आदोलित,
चिर क्षुधा शीत की चीत्कारें, दुख का क्रंदन
जीवन के पथ से उसे नहीं करते विचलित।

है मास पेशियों में उसके दृढ़ कोमलता,
संयोग अवयवों में, अश्लथ उसके उरोज,
कृत्रिम रति की है नहीं हृदय में आकुलता,
उद्दीप्त न करता उसे भाव कल्पित मनोज!

वह स्नेह, शील, सेवा, ममता की मधुर मूर्ति,
यद्यपि चिर दैन्य, अविद्या के तम से पीड़ित,
कर रही मानवी के अभाव की आज पूर्ति
अग्रजा नागरी की,—यह ग्राम वधू निश्चित।

दिसंबर '३९]

कठपुतले

ये जीवित हैं या जीवन्मृत !
या किसी काल विष से मूर्छित ?
ये मनुजाकृति ग्रामिक अगणित !
स्थावर, विषण्ण, जड़वत्, स्तंभित !

किस महारात्रि तम में निद्रित
ये प्रेत !—स्वप्नवत् संचालित !
किस मोह मंत्र से रे कीलित
ये दैव दग्ध, जग के पीड़ित !!

बाम्हन, ठाकुर, लाला, कहार,
कुर्मी, अहीर, बारी, कुम्हार,
नाई, कोरी, पासी, चमार,
शोषित किसान या ज़मींदार,—

ये हैं खाते पीते, रहते,
चलते फिरते, रोते हँसते,
लड़ते मिलते, सोते जगते,
आनंद, नृत्य, उत्सव करते ;—

पर जैसे कठपुतले निर्मित,
ढल प्रतिमाएँ, भूषित सज्जित !
युग युग की प्रेतात्मा अविदित
इनकी गति विधि करती यन्त्रित।

ये छाया तन, ये माया जन,
विश्वास मूढ़ नर नारी गण,
चिर रूढ़ि रीतियों के गोपन
सूत्रों में बँध करते नर्तन।

पा गत संस्कारों के इंगित
ये क्रियाचार करते निश्चित,
कल्पित स्वर में मुखरित, स्पंदित
क्षण भर को ज्यों लगते जीवित!

ये मनुज नहीं हैं रे जागृत
जिनका उर भावों से दोलित,
जिनमें महदाकाक्षाएँ नित
होतीं समुद्र सी आलोड़ित।

जो बुद्धिप्राण, करते चिन्तन,
तत्वान्वेषण, सत्यालोचन,
जो जीवन शिल्पी चिर शोभन
संचारित करते भव जीवन।

ये दारु मूर्तियाँ हैं चित्रित,
जो घोर अविद्या में मोहित;
ये मानव नहीं, जीव शापित,
चेतना विहीन, आत्म विस्मृत!

दिसंबर '३९]

वे आँखें

अंधकार की गुहा सरीखी
उन आँखों से डरता है मन,
भरा दूर तक उनमें दारुण
दैन्य दुःख का नीरव रोदन!
अह, अथाह नैराश्य, विवशता का
उनमें भीषण सूनापन,
मानव के पाशव पीड़न का
देतीं वे निर्मम विज्ञापन!

फूट रहा उनसे गहरा आतंक,
क्षोभ, शोषण, संशय, भ्रम,
डूब कालिमा में उनकी
कँपता मन, उनमें मरघट का तम!
ग्रस लेती दर्शक को वह
दुर्ज्ञेय, दया की भूखी चितवन,
झूल रहा उस छाया-पट में
युग युग का जर्जर जन जीवन!

वह स्वाधीन किसान रहा,
अभिमान भरा आँखों में इसका,
छोड़ उसे मँझधार आज
संसार कगार सदृश बह खिसका!
लहराते वे खेत दृगों में
हुआ बेदखल वह अब जिनसे,

हँसती थी उसके जीवन की
हरियाली जिनके तृन तृन से !

आँखों ही में घूमा करता
वह उसकी आँखों का तारा,
कारकुनों की लाठी से जो
गया जवानी ही मे मारा !
बिका दिया घर द्वार,
महाजन ने न ब्याज की कौड़ी छोड़ी,
रह रह आँखों में चुभती वह
क़ुर्क हुई बरधों की जोड़ी।

उजरी उसके सिवा किसे कब
पास दुहाने आने देती ?
अह, आँखों मे नाचा करती
उजड़ गई जो सुख की खेती !
बिना दवा दर्पन के गृहिनी
स्वरग चली,—आँखें आतीं भर,
देख रेख के बिना दुधमुँही
बिटिया दो दिन बाद गई मर !

घर में विधवा रही पतोहू,
लछमी थी, यद्यपि पति घातिन,
पकड़ मँगाया कोतवाल ने,
डूब कुँए में मरी एक दिन !
ख़ैर, पैर की जूती, जोरू
न सही एक दूसरी आती

वे आँखें

अंधकार की गुहा सरीखी
उन आँखों से डरता है मन,
भरा दूर तक उनमें दारुण
दैन्य दुःख का नीरव रोदन!
अह, अथाह नैराश्य, विवशता का
उनमें भीषण सूनापन,
मानव के पाशव पीड़न का
देतीं वे निर्मम विज्ञापन!

फूट रहा उनसे गहरा आतंक,
क्षोभ, शोषण, संशय, भ्रम,
डूब कालिमा में उनकी
कँपता मन, उनमें मरघट का तम!
ग्रस लेतीं दर्शक को वह
दुर्ज्ञेय, दया की भूखी चितवन,
झूल रहा उस छाया-पट में
युग युग का जर्जर जन जीवन!

वह स्वाधीन किसान रहा,
अभिमान भरा आँखों में इसका,
छोड़ उसे मँझधार आज
संसार कगार सदृश बह खिसका!
लहराते वे खेत दृगों में
हुआ बेदखल वह अब जिनसे,

गाँव के लड़के

मिट्टी से भी मटमैले तन,
अधफटे, कुचैले, जीर्ण वसन,—
ज्यों मिट्टी के हों बने हुए
ये गँवई लड़के—भू के धन !

कोई खंडित, कोई कुंठित,
कृश बाहु, पसलियाँ रेखांकित,
टहनी सी टाँगे, बढ़ा पेट,
टेढ़े मेढे, विकलांग घृणित !

विज्ञान चिकित्सा से वंचित,
ये नहीं धात्रियों से रक्षित,
ज्यो स्वास्थ्य सेज हो, ये सुख से
लोटते धूल में चिर परिचित !

पशुओं सी भीत मूक चितवन,
प्राकृतिक स्फूर्ति से प्रेरित मन,
तृण तरुओं-से उग-बढ, झर-गिर,
ये ढोते जीवन क्रम के क्षण !

कुल मान न करना इन्हें वहन,
चेतना ज्ञान से नहीं गहन,
जग जीवन धारा में बहते
ये मूक, पंगु बालू के कण !

गाँव के लड़के

मिट्टी से भी मटमैले तन,
अधफटे, कुचैले, जीर्ण वसन,—
ज्यों मिट्टी के हों बने हुए
ये गँवई लड़के—भू के धन !

कोई खंडित, कोई कुंठित,
कृश बाहु, पसलियाँ रेखांकित,
टहनी सी टाँगें, बढ़ा पेट,
टेढ़े मेढ़े, विकलांग घृणित !

विज्ञान चिकित्सा से वंचित,
ये नहीं धात्रियों से रक्षित,
ज्यों स्वास्थ्य सेज हो, ये सुख से
लोटते धूल में चिर परिचित !

पशुओं सी भीत मूक चितवन,
प्राकृतिक स्फूर्ति से प्रेरित मन,
तृण तरुओं-से उग-बढ़ [illegible]
ये ढोते [illegible]

कुल मान [illegible]
चेतना [illegible]
जग जी [illegible]
ये [illegible]

गाँव के लड़के

मिट्टी से भी मटमैले तन,
अधफटे, कुचैले, जीर्ण वसन,—
ज्यों मिट्टी के हों बने हुए
ये गँवई लड़के—भू के धन!

कोई खंडित, कोई कुंठित,
कृश बाहु, पसलियाँ रेखांकित,
टहनी सी टाँगे, बढ़ा पेट,
टेढ़े मेढ़े, विकलांग घृणित!

विज्ञान चिकित्सा से वंचित,
ये नहीं धात्रियों से रक्षित,
ज्यों स्वास्थ्य सेज हो, ये सुख से
लोटते धूल में चिर परिचित!

पशुओं सी भीत मूक चितवन,
प्राकृतिक स्फूर्ति से प्रेरित मन,
तृण तरुओं-से उग-बढ, झर-गिर,
ये ढोते जीवन क्रम के क्षण!

कुल मान न करना इन्हें वहन,
चेतना ज्ञान से नहीं गहन,
जग जीवन धारा मे बहते
ये मूक, पंगु बालू के कण!

स्पंदन में दीपित उन्मदान,
यौवन ऐश्वर्य न हो म्लान,
मैं कली या कुसुम? तुम्हीं से
जो होती रहती होके म्लान!

इन पौधों का भी मधुर गीत,
यह मौन हृदय पढ़ता पद्धति,
मानव प्रति आदर की रीति
उपजाती मन में हर्ष गीत!

जनवरी '४०]

वह बुड्ढा—

खड़ा द्वार पर, लाठी टेके,
वह जीवन का बूढ़ा पंजर,
चिमटी उसकी सिकुड़ी चमड़ी
हिलते हड्डी के ढाँचे पर।
उभरी ढीली नसें जाल सी
सूखी ठठरी से हैं लिपटीं,
पतझर में ठूँठे तरु से ज्यों
सूनी अमरबेल हो चिपटी।

उसका लम्बा डील डौल है,
हट्टी कट्टी काठी चौड़ी,
इस खँडहर में बिजली सी
उन्मत्त जवानी होगी दौड़ी!
बैठी छाती की हड्डी अब,
झुकी रीढ़ कमठा सी टेढ़ी,
पिचका पेट, गढ़े कंधों पर,
फटी बिवाई से हैं एड़ी।

बैठ, टेक धरती पर माथा,
वह सलाम करता है झुककर,
उस धरती से पाँव उठा लेने को
जी करता है क्षण भर!
घुटनों से मुड़ उसकी लंबी
टाँगें जाँघें सटी परस्पर,

झुका बीच में शीश, झुर्रियों का
झाँझर मुख निकला बाहर।

हाथ जोड़, चौड़े पंजों की
गुँथी अँगुलियों को कर सन्मुख,
मौन त्रस्त चितवन से,
कातर वाणी से वह कहता निज दुख।
गर्मी के दिन, धरे उपरनी सिर पर,
लुंगी से ढाँपे तन,—
नंगी देह भरी बालों से,—
वन मानुस सा लगता वह जन।

भूखा है : पैसे पा, कुछ गुनमुना,
खड़ा हो, जाता वह घर,
पिछले पैरों के बल उठ
जैसे कोई चल रहा जानवर!
काली नारकीय छाया निज
छोड़ गया वह मेरे भीतर,
पैशाचिक सा कुछ : दुःखों से
मनुज गया शायद उसमें मर!

जनवरी '४०]

धोबियों का नृत्य

लो, छन छन, छन छन,
छन छन, छन छन,
नाच गुजरिया हरती मन !

उसके पैरों में घुँघरू कल,
नट की कटि मे घंटियाँ तरल,
वह फिरकी सी फिरती चंचल,
नट की कटि खाती सौ सौ बल,

लो, छन छन, छन छन,
छन छन, छन छन,
ठुमुक गुजरिया हरती मन !

उड़ रहा ढोल धाधिन, धातिन,
औ' हुडुक घुडुकता ढिम ढिम ढिन,
मजीर खनकते खिन खिन खिन,
मद मस्त रजक, होली का दिन,

लो, छन छन, छन छन,
छन छन, छन छन,
थिरक गुजरिया हरती मन !

वह काम शिखा सी रही सिहर,
नट की कटि में लालसा भँवर,

कँप कँप नितंब उसके थर् थर्
भर रहे घटियों में रति स्वर,

लो, छुन छुन, छुन छुन,
छुन छुन, छुन छुन,
मत्त गुजरिया हरती मन !

फहराता लँहगा लहर लहर,
उड़ रही ओढ़नी फर् फर् फर्,
चोली के कदुक रहे उभर,
(स्त्री नहीं गुजरिया, वह है नर !)

लो, छुन छुन, छुन छुन,
छुन छुन, छुन छुन,
[illegible] गुजरिया हरती मन !

उर की अतृप्त वासना उभर
इस दीन मँजीरे के स्वर पर
नाचती, गगन में फैला पर,
फिर जन मन को उन्मन [illegible],—

लो, छुन छुन, छुन छुन,
छुन छुन, छुन छुन,
चतुर गुजरिया हरती मन !

जनवरी '४०

ग्राम वधू

जाती ग्राम वधू पति के घर !

मा से मिल, गोदी पर सिर धर,
गा गा बिटिया रोती जी भर,
जन जन का मन करुणा कातर,
जाती ग्राम वधू पति के घर !

भीड़ लग गई लो, स्टेशन पर,
सुन यात्री ऊँचा रोदन स्वर
झाँक रहे खिड़की से बाहर,
जाती ग्राम वधू पति के घर !

चिन्तातुर सब, कौन गया मर,
पहियों से दब, कट पटरी पर,
पुलिस कर रही कहीं पकड़-धर ?
जाती ग्राम वधू पति के घर !

मिलती ताई से गा रोकर,
मौसी से वह आपा खोकर,
बारी बारी रो, चुप होकर,
जाती ग्राम वधू पति के घर !

विदा फुआ से ले हाहाकर,
सखियों से रो धो बतिया कर,
पड़ोसिनों पर टूट, रँभा कर,
जाती ग्राम वधू पति के घर !

मा कहती,—रखना सँभाल घर,
भौजी,—धनि, लाना गोदी भर,
सखियाँ,—जाना हमें मत बिसर,
जाती ग्राम वधू पति के घर!

नहीं आँसुओं से आँचल तर,
जन विछोह से हृदय न कातर,
रोती वह, रोने का अवसर,
जाती ग्राम वधू पति के घर!

लो, अब गाड़ी चल दी भर भर,
बलखाती धनि पति से डर कर,
मुखरित डिब्बे के नारी नर,
जाती ग्राम वधू पति के घर!

रोना गाना यहाँ जनम भर,
आता उनमें उभर न अन्तर,
रूढ़ि बद्ध जन जीवन परिहर,
जाती ग्राम वधू पति के घर!

जनवरी '४०]

ग्राम श्री

फैली खेतों में दूर तलक
मखमल की कोमल हरियाली,
लिपटीं जिससे रवि की किरणें
चाँदी की सी उजली जाली।
तिनकों के हरे हरे तन पर
हिल हरित रुधिर है रहा झलक,
श्यामल भू तल पर झुका हुआ
नभ का चिर निर्मल नील फलक।

रोमांचित सी लगती वसुधा
आई जौ गेहूँ में बाली,
अरहर सनई की सोने की
किंकिणियाँ हैं शोभाशाली।
उड़ती भीनी तैलाक्त गंध,
फूली सरसों पीली पीली,
लो, हरित धरा से झाँक रही
नीलम की कलि, तीसी नीली।

रँग रँग के फूलों में रिलमिल
हँस रही सखियाँ मटर खड़ी।
मख़मली पेटियों सी लटकीं
छीमियाँ, छिपाए बीज लड़ी।
फिरती हैं रँग रँग की तितली
रँग रँग के फूलों पर सुंदर,

फूले फिरते हों फूल स्वयं
उड़ उड़ वृंतों से वृंतों पर।

अब रजत स्वर्ण मंजरियों से
लद गईं आम्र तरु की डाली।
झर रहे ढाँक, पीपल के दल,
हो उठी कोकिला मतवाली।
महके कटहल, मुकुलित जामुन,
जंगल में झरबेरी झूली।
फूले आड़ू, नीबू, दाड़िम,
आलू, गोभी, बैंगन, मूली।

पीले मीठे अमरूदों में
अब लाल लाल चित्तियाँ पड़ीं,
पक गए सुनहले मधुर बेर,
अँवली से तरु की डाल जड़ी।
लहलह पालक, महमह धनिया,
लौकी औ' सेम फलीं, फैलीं,
मखमली टमाटर हुए लाल,
मिरचों की बड़ी हरी थैली।

गंजी को मार गया पाला,
अरहर के फूलों को झुलसा,
हाँका करती दिन भर बंदर
अब मालिन की लड़की तुलसा।
बालाएँ गजरा काट काट,
कुछ कह गुपचुप हँसतीं किन किन,
चाँदी की सी घंटियाँ तरल
बजतीं रहतीं रह रह खिन खिन।

थोड़ी हरीतिमा लहराती,
ईखों के खेतों पर सुफ़ेद
काँसों की झंडी फहराती।
ऊँची अरहर में लुका-छिपी
खेलतीं युवतियाँ मदमाती,
चुबन पा प्रेमी युवकों के
श्रम से श्लथ जीवन बहलातीं।

बगिया के छोटे पेड़ों पर
सुदर लगते छोटे छाजन,
सुंदर, गेहूँ की बालों पर
मोती के दानों-से हिमकन।
प्रातः ओझल हो जाता जग,
भू पर आता ज्यों उतर गगन,
सुंदर लगते फिर कुहरे से
उठते-से खेत, बाग़, गृह, वन।

बालू के साँपों से अंकित
गगा की सतरंगी रेती
सुदर लगती सरपत छाई
तट पर तरबूज़ों की खेती।
अँगुली की कंघी से बगुले
कलँगी सँवारते हैं कोई,
तिरते जल में सुरख़ाब, पुलिन पर
मगरौठी रहती सोई।

डुबकियाँ लगाते सामुद्रिक,
धोती पीली चोंचें धोबिन,

उड़ अबाबील, टिटहरी, बया,
 चाहा चुगते कर्दम, कृमि, तृन ।
नीले नभ में पीलो के दल
 आतप में धीरे मँडराते;
रह रह काले, भूरे, सुफ़ेद
 पंखों में रँग आते जाते ।

लटके तरुओं पर विहग नीड़
 वनचर लड़कों को हुए ज्ञात,
रेखा-छवि विरल टहनियों की
 ठूँठे तरुओं के नग्न गात;।
आँगन में दौड़ रहे पत्ते,
 घूमती भँवर सी शिशिर वात ।
बदली छँटने पर लगती प्रिय
 ऋतुमती धरित्री सद्य स्नात ।

हँसमुख हरियाली हिम-आतप
 सुख से अलसाए-से सोए,
भीगी अँधियाली में निशि की
 तारक स्वप्नों में-से खोए,—
मरकत डिब्बे सा खुला ग्राम—
 जिस पर नीलम नभ आच्छादन,—
निरुपम हिमांत में स्निग्ध शांत
 निज शोभा से हरता जन मन !

फ़रवरी '४०]

नहान

जन पर्व मकर संक्रांति आज
उमड़ा नहान को जन समाज
गंगा तट पर सब छोड़ काज।

नारी नर कई कोस पैदल
आरहे चले लो, दल के दल,
गंगा दर्शन को पुण्योज्वल!

लड़के, बच्चे, बूढ़े, जवान,
रोगी, भोगी, छोटे, महान,
क्षेत्रपति, महाजन औ' किसान।

दादा, नानी, चाचा, ताई,
मौसा, फूफी, मामा, माई,
मिल ससुर, बहू, भावज, भाई।

गा रहीं स्त्रियाँ मंगल कीर्तन,
भर रहे तान नव युवक मगन,
हँसते, बतलाते बालक गण।

अतलस, सिंगी, केला औ' सन
गोटे गोखुरू टँगे,—स्त्री जन
पहनीं छींटें, फुलवर, साटन।

बहु फाले, लाल, हरे, नीले,
बैगनी, गुलाबी, पट पीले,
रँग रँग के हलके, चटकीले।

सिर पर है चँदवा शीशफूल,
कानों में झुमके रहे झूल,
बिरिया, गलचुमनी, कर्णफूल।

माँथे के टीके पर जन मन,
नासा में नथिया, फुलिया, कन,
बेसर, बुलाक, झुलनी, लटकन।

गल में कटवा, कंठा, हँसली,
उर में हुमेल, कल चंपकली।
जुगनी, चौकी, मूँगे नक़ली।

बाँहों में बहु बहुँटे, जोशन,
बाजूबंद, पट्टी, बाँक सुषम,
गहने ही गँवारिनों के धन!

कँगने, पहुँची, मृदु पहुँचों पर
पिछला, मँझुवा, अगला क्रमतर
चूड़ियाँ, फूल की मठियाँ वर।

हथफूल पीठ पर कर के धर,
उँगलियाँ मुँदरियों से सब भर,
आरसी अँगूठे में देकर—

वे कटि में चल करधनी पहन,
पाँवों में पायजेब, झाँझन,
बहु छड़े, कड़े, बिछिया शोभन,—

यों सोने चाँदी से झंकृत,
जातीं वे पीतल गिलट खचित,
बहु भाँति गोदना से चित्रित।

ये शत, सहस्र नर नारी जन
लगते प्रहृष्ट सब, मुक्त, प्रमन,
हैं आज न नित्य कर्म बंधन!

विश्वास मूढ़, निःसंशय मन,
करने आए ये पुण्यार्जन,
युग युग से मार्ग भ्रष्ट जनगण।

इनमें विश्वास अगाध, अटल,
इनको चाहिए प्रकाश नवल,
भर सके नया जो इनमें बल!

ये छोटी बस्ती मे कुछ क्षण
भर गए आज जीवन स्पंदन,—
प्रिय लगता जनगण सम्मेलन।

फ़रवरी '४०]

गंगा

अब आधा जल निश्चल, पीला,—
आधा जल चंचल औ' नीला,—
गीले तन पर मृदु संध्यातप
सिमटा रेशम पट सा ढीला।

.. ..

ऐसे सोने के साँझ प्रात,
ऐसे चाँदी के दिवस रात,
ले जाती बहा कहाँ गंगा
जीवन के युग क्षण,—किसे ज्ञात!

विश्रुत हिम पर्वत से निर्गत,
किरणोज्वल चल कल ऊर्मि निरत,
यमुना, गोमती आदि से मिल
होती यह सागर में परिणत।

यह भौगोलिक गंगा परिचित,
जिसके तट पर बहु नगर प्रथित,
इस जड़ गंगा से मिली हुई
जन गंगा एक और जीवित!

वह विष्णुपदी, शिव मौलि स्रुता,
वह भीष्म प्रसू औ' जह्नु सुता।
वह देव निम्नगा, स्वर्गंगा,
वह सगर पुत्र तारिणी श्रुता।

वह गंगा, यह केवल छाया,
वह लोक चेतना, यह माया,
वह आत्म वाहिनी ज्योति सरी,
यह भू पतिता, कंचुक काया।

वह गंगा जन मन से निःसृत,
जिसमें बहु बुद्बुद युग नर्तित,
वह आज तरंगित, संसृति के
मृत सैकत को करने प्लावित।

दिशि दिशि का जन मत वाहित कर,
वह बनी अकूल अतल सागर,
भर देगी दिशि पल पुलिनों में
वह नव जीवन की मृद् उर्वर!

... .

अब नभ पर रेखा शशि शोभित,
गंगा का जल श्यामल, कंपित,
लहरों पर चाँदी की किरणें
करतीं प्रकाशमय कुछ अंकित!

फ़रवरी '४०]

चमारों का नाच

अररर.. ... .
मचा ख़ूब हुल्लड़ हुड़दंग,
घमक घमाघम रहा मृदंग,
उछल कूद, बकवाद, झड़प में
खेल रही खुल हृदय उमंग
यह चमार चौदस का ढंग।

ठनक कसावर रहा ठनाठन,
थिरक चमारिन रही छनाछन,
झूम झूम बाँसुरी करिंगा
बजा रहा, बेसुध सब हरिजन,
गीत नृत्य के सँग है प्रहसन!

मजलिस का मसख़रा करिंगा
बना हुआ है रंग बिरंगा,
भरे चिरकुटों से वह सारी
देह, हँसाता ख़ूब लफंगा,
स्वाँग युद्ध का रच बेढंगा!

बँधा चाम का तवा पीठ पर,
पहुँचे पर बद्धी का हंटर,
लिये हाथ में डाल टेढ़ी
दुमुहा सी बलखाई सुन्दर—
इतराता वह बन मुरलीधर!

ज़मींदार पर फबती कसता,
बाम्हन ठाकुर पर है हँसता,
बातों में वक्रोक्ति काकु औ'
श्लेष बोल जाता वह सस्ता,
कल काँटा को कह कलकत्ता।

घमासान हो रहा है समर,
उसे बुलाने आए अफसर,
गोला फट कर आँख उड़ा दे
छिपा हुआ वह उसे यही डर,
खौफ न मरने का रत्ती भर।

काका' उसका है साथी नट,
गदके उस पर जमा पटापट,
उसे टोकता,— गोली खाकर
आँख जायगी, क्यों वे नटखट ?
भुन न जायगा भुनगे सा झट ?'

गोली खाई ही हैं !' 'चल हट !'
'कई —भाँग की !' वाः, मेरे भट !'
'सच, काका !' भगवान राम
सीसे की गोली !' 'रामधे ?' विकट !'
गदका उस पर पड़ता चटपट।

वह भी फ़ौरन बद्धी कस कर
काका को देता प्रत्युत्तर,
खेत रह गए जब सब रण में

लट्टू उसके गुन पर हरिजन,
छेड़ रहा वंशी फिर मोहन,
तिरछी चितवन से जन मन हर
इठला रही चमारिन छुन् छुन्,
ठनक कसावर बजता ठन ठन!

ये समाज के नीच अधम जन,
नाच कूद कर बहलाते मन,
वर्णों के पद दलित चरण ये
मिटा रहे निज कसक औ' कुढ़न,
कर उच्छृंखलता, उद्धतपन।

अररर.. ... ...
शोर, हँसी, हुल्लड़, हुड़दंग,
धमक रहा धाग्ड़ाग मृदंग'
मार पीट, बकवास, झड़प में
रंग दिखाती महुआ, भंग
यह चमार चौदस का ढंग!

जनवरी '४०]

कहारों का रुद्र नृत्य

रंग रंग के चीरों से भर अंग, चीरवासा-से,
दैन्य शून्य में अप्रतिहत जीवन की अभिलाषा-से,
जटा घटा सिर पर, यौवन की श्मश्रु छटा आनन पर,
छोटी बड़ी तूँबियाँ, रँग रँग की गुरियाँ सज तन पर,
हुलस नृत्य करते तुम, अटपट धर पटु पद, उच्छृङ्खल
आकांक्षा से समुच्छ्वसित जन मन का हिला धरातल!

फड़क रहे अवयव, आवेश विवश मुद्राएँ अंकित;
प्रखर लालसा की ज्वालाओं सी अगुलियाँ कंपित;
ऊष्ण देश के तुम प्रगाढ़ जीवनोल्लास-से निर्भर,
बर्हभार उद्दाम कामना के से खुले मनोहर!
एक हाथ मे ताम्र डमरु धर, एक शिवा की कटि पर,
नृत्य तरंगित रुद्र पूर-से तुम जन मन के सुखकर!

वाद्यों के उन्मत्त घोष से, गायन स्वर से कंपित
जन इच्छा का गाढ़ चित्र कर हृदय पटल पर अंकित,
खोल गए संसार नया तुम मेरे मन में, क्षण भर
जन संस्कृति का तिग्म स्फीत सौन्दर्य स्वप्न दिखला कर!
युग युग के सत्याभासों से पीड़ित मेरा अंतर
जन मानव गौरव पर विस्मित : मैं भावी चिन्तनपर!

फ़रवरी '४०]

भारतमाता

भारत माता
ग्रामवासिनी।
खेतों में फैला है श्यामल
धूल भरा मैला सा आँचल,
गगा यमुना मे आँसू जल,
मिट्टी की प्रतिमा
उदासिनी।

दैन्य जड़ित अपलक नत चितवन,
अधरों में चिर नीरव रोदन,
युग युग के तम से विषण्ण मन,
वह अपने घर में
प्रवासिनी।

तीस कोटि संतान नग्न तन,
अर्ध क्षुधित, शोषित, निरस्त्र जन,
मूढ़, असभ्य, अशिक्षित, निर्धन,
नत मस्तक
तरु तल निवासिनी!

स्वर्ण शस्य पर -पदतल लुंठित,
धरती सा सहिष्णु मन कुंठित,
क्रंदन कंपित अधर मौन स्मित,
राहु ग्रसित
शरदेन्दु हासिनी।

चिन्तित भृकुटि क्षितिज तिमिरांकित,
नमित नयन नभ वाष्पाच्छादित,
आनन श्री छाया-शशि उपमित,
ज्ञान मूढ़
गीता प्रकाशिनी !

सफल आज उसका तप संयम,
पिला अहिंसा स्तन्य सुधोपम,
हरती जन मन भय, भव तम भ्रम,
जग जननी
जीवन विकासिनी ।

जनवरी '४०]

चरखा गीत

भ्रम, भ्रम, भ्रम,—
घूम घुम, भ्रम भ्रम रे चरखा
कहता : 'मैं जन का परम सखा,
जीवन का सीधा सा नुसखा—
श्रम, श्रम, श्रम !'

कहता : 'हे अगणित दरिद्रगण !
जिनके पास न अन्न धन, वसन,
मैं जीवन उन्नति का साधन-
क्रम, क्रम, क्रम !'

भ्रम, भूम, भ्रम,—
'धुन रूई, निर्धनता दो धुन,
कात सूत, जीवन पट लो बुन;
अकर्मण्य, सिर मत धुन, मत धुन,
थम, थम, थम !'

'नग्न गात यदि भारत मा का,
तो खादी समृद्धि की राका,
हरो देश की दरिद्रता का
तम, तम, तम !'

श्रम, श्रम श्रम,—
कहता चरख़ा प्रजा तंत्र से :
'मैं कामद हूँ सभी मंत्र से';
कहता हँस आधुनिक यंत्र से :
'नम, नम, नम !'

'सेवक पालक शोषित जन का,
रक्षक मैं स्वदेश के धन का,
कातो हे, काटो तन मन का
श्रम, श्रम श्रम !'

ंबर '३९]

महात्मा जी के प्रति

निर्वाणोन्मुख आदर्शों के अंतिम दीप शिखोदय !—
जिनकी ज्योति छटा के क्षण से प्लावित आज दिगंचल,—
गत आदर्शों का अभिभव ही मानव आत्मा की जय,
अतः पराजय आज तुम्हारी जय से चिर लोकोज्वल !

मानव आत्मा के प्रतीक ! आदर्शों से तुम ऊपर,
निज उद्देश्यों से महान, निज यश से विशद, चिरंतन;
सिद्ध नहीं, तुम लोक सिद्धि के साधन बने महत्तर,
विजित आज तुम नर वरेण्य, गणजन विजयी साधारण !

युग युग की संस्कृतियों का चुन तुमने सार सनातन
नव संस्कृति का शिलान्यास करना चाहा भव शुभकर,
साम्राज्यों ने ठुकरा दिया युगों का वैभव पाहन—
पदाघात से मोह मुक्त हो गया आज जन अंतर !

दलित देश के दुर्दम नेता, हे ध्रुव, धीर, धुरंधर,
आत्म शक्ति से दिया जाति शव को तुमने जीवन बल;
विश्व सभ्यता का होना था नखशिख नव रूपांतर,
राम राज्य का स्वप्न तुम्हारा हुआ न यों ही निष्फल !

विकसित व्यक्तिवाद के मूल्यों का विनाश था निश्चय,
वृद्ध विश्व सामंत काल का था केवल जड़ खँडहर !
हे भारत के हृदय ! तुम्हारे साथ आज निःसंशय
चूर्ण हो गया विगत सांस्कृतिक हृदय जगत का जर्जर !

गत संस्कृतियों का, आदर्शों का था नियत पराभव,
वर्ग व्यक्ति की आत्मा पर थे सौध धाम, जिनके स्थित;
तोड़ युगों के स्वर्ण पाश अब मुक्त हो रहा मानव,
जन मानवता की भव संस्कृति आज हो रही निर्मित !

किए प्रयोग नीति सत्यों के तुमने जन जीवन पर,
भावादर्श न सिद्ध कर सके सामूहिक जीवन-हित;
अधोमूल अश्वत्थ विश्व, शाखाएँ संस्कृतियाँ वर,
वस्तु विभव पर ही जनगण का भाव विभव अवलंबित !

वस्तु सत्य का करते भी तुम जग में यदि आवाहन,
सब से पहले विमुख तुम्हारे होता निर्धन भारत;
मध्य युगो की नैतिकता में पोषित शोषित-जनगण
बिना भाव-स्वप्नों को परखे कब हो सकते जाग्रत् ?

सफल तुम्हारा सत्यान्वेषण, मानव सत्यान्वेषक !
धर्म, नीति के मान अचिर सब, अचिर शास्त्र, दर्शन मत,
शासन, जन गण तंत्र अचिर—युग स्थितियाँ जिनकी प्रेषक,
मानव गुण, भव रूप नाम होते परिवर्तित युगपत् !

पूर्ण पुरुष, विकसित मानव तुम, जीवन सिद्ध अहिंसक,
मुक्त-हुए-तुम-मुक्त-हुए-जन, हे जग वंद्य महात्मन् !
देख रहे मानव भविष्य तुम मनश्चक्षु बन अपलक,
धन्य, तुम्हारे श्री चरणों से धरा आज चिर पावन !

दिसंबर '३९]

राष्ट्र गान

जन भारत हे !
भारत हे !

स्वर्ग स्तंभवत् गौरव मस्तक
उन्नत हिमवत् हे,
जन भारत हे,
जाग्रत् भारत हे !

गगन चुंबि विजयी तिरंग ध्वज
इंद्रचापमत् हे,
कोटि कोटि हम श्रम जीवी सुत
संभ्रम युत नत हे,
सर्व एक मत, एक ध्येय रत,
सर्व श्रेय व्रत हे,
जन भारत हे,
जाग्रत भारत हे !

समुच्चरित शत शत कंठों से
जन युग स्वागत हे,
सिन्धु तरंगित, मलय श्वसित,
गंगाजल ऊर्मि निरत हे,
शरद इंदु स्मित अभिनंदन हित,
प्रतिध्वनित पर्वत हैं,

स्वागत हे, स्वागत हे,
जन भारत हे,
जाग्रत् भारत हे !

स्वर्ग खंड षड् ऋतु परिक्रमित,
आम्र मंजरित, मधुप गुंजरित,
कुसुमित फल द्रुम पिक कल कूजित
उर्वर, अभिमत हे,
दश दिशि हरित शस्य श्री हर्षित
पुलक राशिवत् हे,
जन भारत हे,
जाग्रत् भारत हे !

जाति धर्म मत, वर्ग श्रेणि शत,
नीति रीति गत हे
मानवता में सकल समागत
जन मन परिणत हे,
अहिंसास्त्र जन का मनुजोचित
चिर अप्रतिहत हे,
बल के विमुख, सत्य के सन्मुख
हम श्रद्धानत हे,
जन भारत हे,
जाग्रत् भारत हे !

किरण केलि रत रक्त विजय ध्वज
युग प्रभातमत् हे,
कीर्ति स्तंभवत् उन्नत मस्तक
प्रहरी हिमवत् हे.

पद तल छू शत फेनिलोर्मि फन
शेषोदधि नत है,
वर्ग मुक्त हम श्रमिक कृषक जन
चिर शरणागत है,
जन भारत है,
जाग्रत् भारत है !

जनवरी '४०]

ग्राम देवता

राम राम,
हे ग्राम देवता, भूति ग्राम !

तुम पुरुष पुरातन, देव सनातन, पूर्णकाम,
शिर पर शोभित वर छत्र तड़ित स्मित घन श्याम
वन पवन मर्मरित-व्यजन, अन्न फल श्री ललाम।

तुम कोटि बाहु, वर हलधर, वृष वाहन वलिष्ठ,
मित असन, निर्वसन, क्षीणोदर, चिर सौम्य शिष्ट ;
शिर स्वर्ण शस्य मजरी मुकुट, गणपति वरिष्ट,
वाग्युद्ध वीर, क्षण क्रुद्ध धीर, नित कर्मनिष्ठ।

पिक वयनी मधुऋतु से प्रति वत्सर अभिनदित,
नव आम्र मजरी मलय तुम्हे करता अर्पित।
प्रावृट् मे तव प्रागण घन गर्जन से हर्षित,
मरकत कल्पित नव हरित प्ररोहो में पुलकित!

शशि मुखी शरद करती परिक्रमा कुद स्मित,
वेणी मे खोंसे काँस, कान मे कुँई लसित।
हिम तुमको करता तुहिन मोतियों से भूषित,
वहु सोन कोक युग्मो से तव सरि-सर कूजित।

अभिराम तुम्हारा वाह्य रूप, मोहित कवि मन,
नभ के नीलम संपुट मे तुम मरकत शोभन!
पर, खोल आज निज अतःपुर के पट गोपन
चिर मोह मुक्त कर दिया, देव ! तुमने यह जन !

राम राम,
हे ग्राम देवता, रूढ़ि धाम !

तुम स्थिर, परिवर्तन रहित, कल्पवत् एक याम,
जीवन संघर्षण विरत, प्रगति पथ के विराम,
शिक्षक तुम, दस वर्षों से मैं सेवक, प्रणाम।

कवि अल्प, उडुप मति, भव तितीर्षु,—दुस्तर अपार,
कल्पना पुत्र मैं, भावी द्रष्टा, निराधार,
सौन्दर्य स्वप्नचर,—नीति दंडधर तुम उदार,
चिर परम्परा के रक्षक, जन हित मुक्त द्वार।

दिखलाया तुमने भारतीयता का स्वरूप,
जन मर्यादा का स्रोत शून्य चिर अध कूप,
जग से अबोध, जानता न था मैं छाँह धूप,
तुम युग युग के जन विश्वासों के जीर्ण स्तूप!

यह वही अवध! तुलसी की संस्कृति का निवास!
श्री राम यहीं करते जन मानस में विलास!
अह, सतयुग के खँडहर का यह दयनीय ह्रास!
वह अकथनीय मानसिक दैन्य का बना ग्रास!!

ये श्रीमानों के भवन आज साकेत धाम!
संयम तप के आदर्श बन गए भोग काम!
आराधित सत्व यहाँ, पूजित धन, वंश, नाम!
यह विकसित व्यक्तिवाद की संस्कृति! राम राम!!

श्री राम रहे सामंत काल के ध्रुव प्रकाश,
पशुजीवी युग में नव कृषि संस्कृति के विकास;
कर सके नहीं वे मध्य युगों का तम विनाश,
जन रहे सनातनता के तम में क्रीत दास!

पशु-युग में थे गणदेवो के पूजित पशुपति,
थी रुद्रचरों से कुंठित कृषि युग की उन्नति।
श्री राम रुद्र की शिव में कर जन हित परिणति,
जीवित कर गए अहल्या को, थे सीतापति!

वाल्मीकि बाद आए श्री व्यास जगत वंदित,
वह कृषि संस्कृति का चरमोन्नत युग था निश्चित,
बन गए राम तब कृष्ण, भेद मात्रा का मित,
वैभव युग की वंशी से कर जन मन मोहित।

तब से युग युग के हुए चित्रपट परिवर्तित,
तुलसी ने कृषि मन युग अनुरूप किया निर्मित।
खोगया सत्य का रूप, रह गया नामामृत,
जन समाचरित वह सगुण बन गया आराधित!

गत सक्रिय गुण बन रूढि रीति के जाल गहन
कृषि प्रमुख देश के लिए होगए जड़ बंधन।
जन नहीं, यंत्र जीवनोपाय के अब वाहन,
संस्कृति के केन्द्र न वर्ग अधिप, जन साधारण!

उच्छिष्ट युगो का आज सनातनवत् प्रचलित,
बन गईं चिरतन रीति नीतियाँ,—स्थितियाँ मृत।
गत संस्कृतियाँ थीं विकसित वर्ग व्यक्ति आश्रित,
तब वर्ग व्यक्ति गुण, जन समूह गुण अब विकसित।

अति-मानवीय था निश्चित विकसित व्यक्तिवाद,
मनुजो मे जिसने भरा देव पशु का प्रमाद।
जन जीवन बना न विशद, रहा वह निराह्लाद,
विकसित नर नर-अपवाद नहीं, जन-गुण-विवाद।

तब था न वाष्प, विद्युत का जग मे हुआ उदय,
थे मनुज यंत्र, युग पुरुष सहस्र हस्त बलमय।
अब यंत्र मनुज के कर पद बल, सेवक समुदय,
सामत मान अब व्यर्थ,—समृद्ध विश्व अतिशय।

अब मनुष्यता को नैतिकता पर पानी जय,
गत वर्ग गुणो को जन सस्कृति मे होना लय;
देशो राष्ट्रो को मानव जग बनना निश्चय,
अतर जग को फिर लेना बहिर्जगत आश्रय।

राम राम,
हे ग्राम्य देवता, यथा नाम।
शिक्षक हो तुम, मै शिष्य, तुम्हें सविनय प्रणाम।
विजया, महुआ, ताड़ी, गाँजा पी सुबह शाम
तुम समाधिस्थ नित रहो, तुम्हें जग से न काम!

पडित, पडे, ओझा, मुखिया औ' साधु, सत
दिखलाते रहते तुम्हें स्वर्ग अपवर्ग पथ।
जो था, जो है, जो होगा,—सब लिख गए ग्रथ,
विज्ञान ज्ञान से बड़े तुम्हारे मत्र तत्र।

युग युग से जनगण, देव! तुम्हारे पराधीन,
दारिद्र्य दुःख के कर्दम मे कृमि सदृश लीन!
बहु रोग शोक पीड़ित विद्या बल बुद्धि हीन,
तुम राम राज्य के स्वप्न देखते उदासीन!

जन अमानुषी आदर्शो के तम मे कवलित,
माया उनको जग, मिथ्या जीवन, देह अनित;

वे चिर निवृत्ति के भोगी,—त्याग विराग विहित,
निज आचरणों में नरक जीवियों तुल्य पतित !

वे देव भाव के प्रेमी,—पशुओं से कुत्सित,
नैतिकता के पोषक,—मनुष्यता से वंचित,
बहु नारी सेवी,—पतिव्रता ध्येयी निज हित,
वैधव्य विधायक,—बहु विवाह वादी निश्चित ।

सामाजिक जीवन के अयोग्य, ममता प्रधान,
संघर्षण विमुख, अटल उनको विधि का विधान ।
जग से अलिप्त वे, पुनर्जन्म का उन्हें ध्यान,
मानव स्वभाव के द्रोही, श्वानों के समान ।

राम राम,
हे ग्राम देव, लो हृदय थाम,
अब जन स्वातंत्र्य युद्ध की जग में धूम धाम ।
उद्यत जनगण युग क्रांति के लिए बाँध लाम,
तुम रूढ़ि रीति की खा अफीम लो चिर विराम !

यह जन स्वातंत्र्य नहीं जनैक्य का वाहक रण,
यह अर्थ राजनीतिक न सांस्कृतिक संघर्षण ।
युग युग की खंड मनुजता दिशि दिशि के जनगण
मानवता में मिल रहे,—ऐतिहासिक यह क्षण !

नव मानवता में जाति वर्ग होंगे सब क्षय,
राष्ट्रों के युग वृत्तांश परिधि में जग की लय ।
जन आज अहिंसक, होंगे कल स्नेही, सहृदय,
हिन्दू ईसाई, मुसलमान,—मानव निश्चय ।

मानवता अब तक देश काल के थी आश्रित,
संस्कृतियाँ सकल परिस्थितियों से थी पीड़ित।
गत देश काल मानव के बल से आज विजित,
अब खर्व विगत नैतिकता मनुष्यता विकसित।

छायाएँ हैं संस्कृतियाँ, मानव की निश्चित,
वह केन्द्र परिस्थितियों के गुण उसमें बिम्बित!
मानवी चेतना खोल युगों के गुण कवलित
अब नव संस्कृति के वसनों से होगी भूषित।

विश्वास, धर्म, संस्कृतियाँ, नीति रीतियाँ गत
जन संघर्षण में होंगी ध्वंस लीन परिणत।
बंधन विमुक्त हो मानव आत्मा अप्रतिहत
नव मानवता का सद्य करेगी युग स्वागत।

राम राम,
हे ग्राम देवता, रूढ़िधाम!
तुम पुरुष पुरातन, देव सनातन पूर्ण काम
जड़वत् परिवर्तन शून्य, कल्प शत एक याम,
शिक्षक हो तुम, मैं शिष्य, तुम्हें शत शत प्रणाम।

जनवरी '४०]

संध्या के बाद—

सिमटा पख साँझ की लाली
जा बैठी अब तरु शिखरों पर,
ताम्रपर्ण पीपल से, शतमुख
झरते चंचल स्वर्णिम निर्झर।
ज्योति स्तभ सा धँस सरिता मे
सूर्य क्षितिज पर होता ओझल,
बृहद् जिह्म विश्लथ कैचुल सा
लगता चितकबरा गगाजल।

धूपछाँह के रँग की रेती
अनिल ऊर्मियो से सर्पांकित,
नील लहरियों मे लोड़ित
पीला जल रजत जलद से बिम्बित।
सिकता, सलिल, समीर सदा से
स्नेह पाश मे बँधे समुज्वल,
अनिल पिघल कर सलिल,
सलिल ज्यों गति द्रव खो बन गया लवोपल।

शख घंट बजते मदिर मे,
लहरों मे होता लय-कंपन,
दीप शिखा सा ज्वलित कलश
नभ मे उठकर करता नीराजन।

तट पर बगुलो सी वृद्धाएँ,
विधवाएँ जप ध्यान में मगन,
मथर धारा मे बहता
जिनका अदृश्य गति अतर रोदन।

दूर, तमस रेखाओं सी,
उड़ते पंखों की गति सी चित्रित
सोन खगों की पाँति
आर्द्र ध्वनि से नीरव नभ करती मुखरित।
स्वर्ण चूर्ण सी उड़ती गोरज
किरणों की बादल सी जल कर,
सनन् तीर सा जाता नभ में
ज्योतित पंखों कंठो का स्वर।

लौटे खग, गाएँ घर लौटीं,
लौटे कृपक श्रात श्लथ डग धर,
छिपे गृहों में म्लान चराचर,
छाया भी हो गई अगोचर।
लौट पैंठ से व्यापारी भी
जाते घर, उस पार नाव पर,
ऊँटों, घोड़ों के सँग बैठे
खाली बोरों पर, हुक्का भर।

जाड़ों की सूनी द्वाभा में
झूल रही निशि छाया गहरी,
डूब रहे निष्प्रभ विषाद में
खेत, बाग़, गृह, तरु तट लहरी।
बिरहा गाते गाड़ी वाले,
भूँक भूँक कर लड़ते कूकर,
हुआँ हुआँ करते सियार
देते विषण्ण निशि बेला को स्वर!

माली की मँड़ई से उठ
नभ-के-नीचे-नभ-सी धूमाली

मंद पवन में तिरती
नीली रेशम की सी हलकी जाली।
बत्ती जला दुकानों में
बैठे सब क़स्बे के व्यापारी,
मौन मंद आभा में
हिम की ऊँघ रही लंबी अँधियारी।

धुँआ अधिक देती है
टिन की ढबरी, कम करती उजियाला,
मन से कढ़ अवसाद श्रांति
आँखों के आगे बुनती जाला।
छोटी सी बस्ती के भीतर
लेन देन के थोथे सपने
दीपक के मंडल में मिलकर
मँडराते घिर सुख दुख अपने।

कँप कँप उठते लौ के सँग
कातर उर क्रन्दन, मूक निराशा,
क्षीण ज्योति ने चुपके ज्यों
गोपन मन को दे दी हो भाषा।
लीन हो गई क्षण में बस्ती,
मिट्टी खपरे के घर आँगन,
भूल गए लाला अपनी सुधि,
भूल गया सब ब्याज, मूलधन!

सकुची सी परचून किराने की ढेरी
लग रहीं तुच्छतर,
इस नीरव प्रदोष में आकुल
उमड़ रहा अंतर जग बाहर!

अनुभव करता लाला का मन
　　छोटी हस्ती का सस्तापन,
जाग उठा उसमे मानव,
　　औ' असफल जीवन का उत्पीड़न।

दैन्य दुःख अपमान ग्लानि
　　चिर क्षुधित पिपासा, मृत अभिलाषा,
बिना आय की क्लांति बन रही
　　उसके जीवन की परिभाषा।
जड़ अनाज के ढेर सदृश ही
　　वह दिन भर बैठा गद्दी पर
बात बात पर झूठ बोलता
　　कौड़ी की स्पर्धा मे मर मर।

फिर भी क्या कुटुंब पलता है ?
　　रहते स्वच्छ सुघर सब परिजन ?
बना पारहा वह पक्का घर ?
　　मन मे सुख है ? जुटता है धन ?
खिसक गई कधो से कथड़ी,
　　ठिठुर रहा अब सर्दी से तन,
सोच रहा बस्ती का बनिया
　　घोर विवशता का निज कारण !

शहरी बनियों सा वह भी उठ
　　क्यों बन जाता नहीं महाजन ?
रोक दिए हैं किसने उसकी
　　जीवन उन्नति के सब साधन ?
यह क्या सभव नहीं,
　　व्यवस्था मे जग की कुछ हो परिवर्तन ?

कर्म और गुण के समान ही
सकल आय व्यय का हो वितरण ?
घुसे घरौंदों में मिट्टी के
अपनी अपनी सोच रहे जन,
क्या ऐसा कुछ नहीं,
फूँक दे जो सबमें सामूहिक जीवन ?
मिलकर जन निर्माण करे जग,
मिलकर भोग करे जीवन का,
जन विमुक्त हो जन शोषण से,
हो समाज अधिकारी धन का ?
दरिद्रता पापों की जननी,
मिटे जनों के पाप, ताप, भय,
सुन्दर हो अधिवास, वसन, तन,
पशु पर फिर मानव की हो जय ?
व्यक्ति नहीं, जग की परिपाटी
दोषी जन के दुःख क्लेश की,
जन का श्रम जन में बँट जाए,
प्रजा सुखी हो देश देश की !
टूट गया वह स्वप्न वणिक का,
आई जब बुढ़िया बेचारी
आध पाव आटा लेने,—
लो, लाला ने फिर डंडी मारी !
चीख़ उठा घुघ्घू डालों में,
लोगों ने पट दिए द्वार पर,
निगल रहा बस्ती को धीरे
गाढ़ अलस निद्रा का अजगर !

दिसंबर '३९]

खिड़की से

पूस : निशा का प्रथम प्रहर : खिड़की से बाहर
दूर क्षितिज तक स्तब्ध आम्र वन सोया : क्षण भर
दिन का भ्रम होता : पूनो ने तृण तरुओं पर
चाँदी मढ दी है, भू को स्वप्नों से जड़ कर !
चारु चंद्रिकातप से पुलकित निखिल धरातल
चमक रहा है, ज्यों जल में बिम्बित जग उज्वल !

स्पष्ट दीखते,—खिड़की की जाली में विजड़ित
कटहल, लीची, आम,—घूक गेदुर से कपित;
फाटक औ' हाते के खंभे वगिया के पथ,
आधी जगत कुँए की कुरिया की छाजन श्लथ;
अस्पताल का भाग, मेहरावें, दरवाज़े,
स्फटिक सदृश जो चमक रहे चूने से ताज़े ।
औ,'—टेढ़ी मेढी दिगंत रेखा के ऊपर'
पास पास दो पेड़ ताड़ के खड़े मनोहर !

आधी खिड़की पर अगणित ताराओं से स्मित
हरित धरा के ऊपर नीलाबर छायांकित ।
कचपचिया (कृत्तिका) सामने शोभित सुदर
मोती के गुच्छे सी : भरणी ज्यों त्रिकोण वर !
पास रोहिणी, प्रिय मिलनातुर, बाँह खोलकर,
सेंदुर की वेदी दे, जुड़ुओं को गोदी भर ।
लुब्ध दृष्टि लुब्धक, समीप ही, छोड़ रहा शर
आदि काल से मृग पर : मृग शिर सहज मनोहर !

उधर जड़े पुखराज लाल-से गुरु औ' मंगल
साथ साथ, जिनमें अवश्य गुरु सबसे उज्वल !
हस्ता है प्रत्यक्ष : कठिन वृश्चिक का मिलना,
वह शायद आर्द्रा, कहता हिमजल सा हिलना।

ज्योति फेन सी स्वर्गंगा नभ बीच तरंगित,
परियों की माया सरसी सी छायालोकित ;
ज्वलित पुंज ताराओं के वाष्पों से सस्मित,
नीलम के नभ में रत्न प्रभ पुल सी निर्मित।

खोज रहा हूँ कहाँ उदित सप्तर्षि गगन में
अरुंधती को लिए साथ, विस्मित-से मन में !
प्रश्न चिह्न-से जो अनादि से नभ में अंकित,
उत्तर में स्थिर ध्रुव की ओर किए चिर इंगित,
पूछ रहे हों संसृति का रहस्य ज्यो अविदित,—
'क्या है वह ध्रुव सत्य ? गहन नभ जिससे ज्योतित !'

ज्योत्स्ना में विकसित सहस्रदल-भू पर, अंबर
शोभित ज्यों लावण्य स्वप्न अपलक नयनों पर !
यह प्रतिदिन का दृश्य नहीं, छल से वातायन
आज खुल गया अप्सरियों के जग में मोहन !

चिर परिचित माया बल से बन गए अपरिचित,
निखिल वास्तविक जगत कल्पना से ज्यों चित्रित !
आज असुंदरता, कुरूपता भव से ओझल !
सब कुछ सुंदर ही सुंदर, उज्वल ही उज्वल !

एक शक्ति से, कहते, जग प्रपंच यह विकसित,
एक ज्योति कर से समस्त जड़ चेतन निर्मित,
सच है यह : आलोक पाश में बँधे चराचर
आज आदि कारण की ओर खींचते अंतर !

क्षुद्र आत्म-पर भूल, भूत सब हुए समन्वित,
तृण, तरु से तारालि—सत्य है एक अखंडित !
मानव ही क्यों इस असीम समता से वंचित ?
ज्योति भीत, युग युग से तमस विमूढ़, विभाजित !!

दिसंबर '३९]

रेखाचित्र

चाँदी की चौड़ी रेती,
फिर स्वर्णिम गंगा धारा,
जिसके निश्चल उर पर विजड़ित
रत्न छाय नभ सारा!

फिर बालू का नासा
लंबा ग्राह तुंड सा फैला,
छितरी जल रेखा—
कछार फिर गया दूर तक मैला!

जिस पर मछुओं की मँड़ई,
औ' तरबूज़ों के ऊपर,
बीच बीच में, सरपत के मूँठे
खग-से खोले पर!

पीछे, चित्रित विटप पाँति
लहराई सांध्य क्षितिज पर,
जिससे सट कर
नील धूम्र रेखा ज्यों खिंची समांतर।

बर्ह पुच्छ-से जलद पंख
अंबर में बिखरे सुंदर
रंग रंग की हलकी गहरी
छायाएँ छिटका कर।

सब से ऊपर निर्जन नभ में
    अपलक संध्या तारा,
नीरव औ' निःसंग,
    खोजता सा कुछ, चिर पथहारा!
साँझ,—नदी का सूना तट,
    मिलता है नहीं किनारा,
खोज रहा एकाकी जीवन
    साथी, स्नेह सहारा!

जनवरी '४०]

दिवा स्वप्न

दिन की इस विस्तृत आभा में, खुली नाव पर
आर पार के दृश्य लग रहे साधारणतर।
केवल नील फलक सा नभ, सैकत रजतोज्वल,
और तरल बिल्लौर वेश्मतल सा गंगा जल—
चपल पवन के पदाचार से अहरह स्पदित—
शात हास्य से अंतर को करते आह्लादित।
मुक्त स्निग्ध उल्लास उमड़ जल हिलकोरों पर
नृत्य कर रहा, टकरा पुलकित तट छोरो पर।

यह सैकत तट पिघल पिघल यदि बन जाता जल
बह सकती यदि धरा चूमती हुई दिगंचल,
यदि न डुबाता जल, रह कर चिर मृदुल तरलतर,
तो मै नाव छोड़, गंगा के गलित स्फटिक पर
आज लोटता, ज्योति जड़ित लहरो सँग जी भर!
किरणों से खेलता मिचौनी मैं लुक छिप कर,
लहरों के अंचल मे फेन पिरोता सुदर,
हँसता कल कल : मत्त नाचता, भूल पैंग भर!

कैसा सुदर होता, वदन न होता गीला,
लिपटा रहता सलिल रेशमी पट सा ढीला!
यह जल गीला नहीं, गलित नभ केवल चंचल,
गीला लगता-हमें, न भीगा हुआ स्वयं जल।
हाँ, चित्रित-से लगते तृण-तरु भू पर बिम्बित,
मेरे चल पद चूम धरणि हो उठती कपित।

एक सूर्य होता नभ में, सौ भू पर विजड़ित,
सिहर सिहर क्षिति मारुत को करती आलिंगित।
निशि में ताराओं से होती धरा जब खचित
स्वप्न देखता स्वर्ग लोक में मैं ज्योत्स्ना स्मित!

गुन के बल चल रही प्रतनु नौका चढाव पर
बदल रहे तट दृश्य चित्रपट पर ज्यों सुंदर।
वह, जल से सट कर उड़ते हैं चटुल पनेवा,
इन पखों की परियों को चाहिए न खेवा!
दमक रही उजियारी छाती, करछौंहे पर,
श्याम घनों से झलक रही बिजली क्षण क्षण पर!
उधर कगारे पर अटका है पीपल तरुवर
लंबी, टेढी जड़ें जटा सी छितरीं बाहर।
लोट रहा सामने सूंस पनडुब्बी सा तिर,
पूँछ मार जल से चमकीली, करवट खा फिर।
सोन कोक के जोड़े बालू की चाँदी पर
चोंचों से सहला पर, क्रीड़ा करते सुखकर।
बैठ न पातीं, चक्कर देतीं देव दिलाई,
तिरती लहरों पर सुफेद काली परछाँई।
लो, मछरंगा उतर तीर सा नीचे क्षण में,
पकड़ तड़पती मछली को, उड़ गया गगन में।
नरकुल सी चोंचें ले चाहा फिरते फर् फर्।
मँडराते सुरखाव व्योम में, आर्त नाद कर,—
काले, पीले, खैरे, बहुरंगे चित्रित पर
चमक रहे बारी बारी स्मित आभा से भर!
वह, टीले के ऊपर, तूँबी सा, बबूल पर,
सरपत का घोंसला बया का लटका सुंदर!

दूर उधर, जंगल में भीटा एक मनोहर
दिखलाई देता है वन-देवी का सा घर।
जहाँ खेलते छायातरु, मारुत तरु-मर्मर,
स्वप्न देखती विजन शांति में मौन दोपहर-!
वन की परियाँ धूपछाँह की साड़ी पहने
जहाँ विचरतीं चुनने ऋतु कुसुमों के गहने।
वहाँ मत्त करती मन नव मुकुलों की सौरभ,
गुंजित रहता सतत द्रुमों का हरित श्वसित नभ !
वहाँ गिलहरी दौड़ा करती तरु डालों पर
चंचल लहरी सी, मृदु रोमिल पूँछ उठा कर।
और वन्य विहगों-कीटों के सौ सौ प्रिय स्वर
गीत वाद्य से बहलाते शोकाकुल अंतर।

वहीं कहीं, जी करता, मैं जाकर छिप जाऊँ,
मानव जग के क्रंदन से छुटकारा पाऊँ।
प्रकृति नीड़ में व्योम खगों के गाने गाऊँ,
अपने चिर स्नेहातुर उर की व्यथा भुलाऊँ !

जनवरी '४०]

सौन्दर्य कला

नव वसंत की रूप राशि का ऋतु उत्सव यह उपवन,
सोच रहा हूँ, जन जग से क्या सचमुच लगता शोभन !
या यह केवल प्रतिक्रिया, जो वर्गों के संस्कृत जन
मन मे जाग्रत करते, कुसुमित अग, कंटकावृत मन !

रंग रंग के खिले फ्लॉक्स, वरवीना, छपे डियाथस,
नत दृग ऐंटिह्निनम, तितली सी पेज़ी, पॉपी सालस ;
हँसमुख कैंडीटफ़्ट, रेशमी चटकीले नैशटरशम,
खिली स्वीट पी,—एवंडंस, फ़िल वास्केट औ' ब्लू बैटम ।
दुहरे कार्नेशंस, स्वीट सुलतान सहज रोमाचित,
ऊँचे हाली हॉक, लार्कस्पर पुष्प स्तंभ से शोभित ।

फूले बहु मख़मली, रेशमी, मृदुल गुलाबो के दल,
धवल मिसेज़ एंड्रू कार्नेगी, ब्रिटिश क्वीन हिम उज्वल ।
जोसेफ हिल, सनब्रस्ट पीत, स्वर्णिम लेडी हेलिंडन,
ग्रेड मुगल, रिचमंड, विकच ब्लैक प्रिस नील लोहित तन ।
फेअरी क्वीन, मार्ग्रेरेट मृदु, वीलियम शीन चिर पाटल,
बटन रोज़ बहु लाल, ताम्र, माखनी रग के कोमल ।

विविध आयताकार, वर्ग षट्कोण क्यारियाँ सुपमित,
वर्तुल, अडाकृति, नव रुचि से कटी छँटी, दूर्वावृत ।
चित्रित-से उपवन मे शत रंगों में आतप-छाया,
सुरभि श्वसित मारुत, पुलकित कुसुमों की कंपित काया ।
नव वसत की श्री शोभा का दर्पण सा यह उपवन,
सोच रहा हूँ, क्या विवर्ण जन जग से लगता शोभन !

इस मटमैली पृथ्वी ने सतरंगी रवि किरणों से
खींच लिए किस माया बल से सब रँग आभरणो से ।

सौन्दर्य कला

युग युग से किन सूक्ष्म बीज कोषों से विकसित होकर
राशि राशि ये रूप रंग भू पर हो रहे निछावर!
जीवन ये भर सके नहीं मृन्मय तन में धरती के,
सुंदरता के सब प्रयोग लग रहे प्रकृति के फीके!

जग विकास क्रम में सुदरता कब की हुई पराजित,
तितली, पक्षी, पुष्प वर्ग इसके प्रणाम हैं जीवित।
हृदय नहीं इस सुंदरता के, भावोन्मेष न मन में,
अंगो का उल्लास न चिर रहता, कुम्हलाता क्षण मे!
हुआ सृष्टि में बुद्ध हृदय जीवों का तभी पदार्पण,
जड़ सुंदरता को निसर्ग कर सका न आत्म समर्पण।
मानव उर में भर ममत्व जीवों के जीवन के प्रति
चिर विकास प्रिय प्रकृति देखती तब से मानव परिणति।

आज मानवी संस्कृतियाँ हैं वर्ग चयन से पीड़ित,
पुष्प पक्षियों सी वे अपने ही विकास में सीमित।
इस विशाल जन जीवन के जग से हो जाति विभाजित
व्यापक मनुष्यत्व से वे सब आज हो रहीं वञ्चित!
हृदय हीन, अस्तित्व मुग्ध ये वर्गों के जन निश्चित,
वेश वसन भूषित बहु पुष्प-वनस्पतियों से शोभित!
हुआ कभी सौन्दर्य कला युग अंत प्रकृति जीवन मे
मानव जग से जाने को वह अब युग परिवर्तन में।

हृदय, प्रेम के पूर्ण हृदय से निखिल प्रकृति जग शासित,
जीव प्रेम के सन्मुख रे जीवन सौन्दर्य पराजित!
नव वसंत की वर्ग कला का दर्शन गृह यह उपवन,
सोच रहा हूँ विश्री जन जग से लगता क्या शोभन!

स्वीट पी के प्रति

कुल वधुओं सी अयि सलज्ज सुकुमार !
शयन कक्ष, दर्शन गृह की शृंगार !
उपवन के यत्नों से पोषित,
पुष्प पात्र में शोभित रक्षित
कुम्हलाती जाती हो तुम, निज शोभा ही के भार !
कुल वधुओं सी अयि सलज्ज, सुकुमार !

सुभग रेशमी वसन तुम्हारे
सुरँग, सुरुचिमय,—
अपलक रहते लोचन !
फूट फूट अंगो से सारे
सौरभ अतिशय
पुलकित कर देती मन !

उन्नत वर्ग वृंत पर निर्भर,
तुम सस्कृत हो, सहज सुघर,
औ' निश्चय वानस्पत्य चयन में
दोनो निर्विशेष हो सुंदर !
निबल शिराओं मे, मृदु तन में
बहती युग युग से जीवन के सूक्ष्म रुधिर की धार !
कुल वधुओं सी अयि सलज्ज, सुकुमार !

मृदुल मलय के स्नेह स्पर्श से
होता तन मे कंपन,
जीवन के ऐश्वर्य हर्ष से
करता उर नित नर्तन,—

केवल हास विलास मयी तुम
शोभा ही में शोभन,
प्रणय कुंज मे साँझ प्रात
करती हो गोपन कूजन !
जग से चिर अज्ञात,
तुम्हे बाँधे निकुंज गृह द्वार !
कुल वधुओं सी अयि सलज सुकुमार !
हाय न क्या आदोलित होता
हृदय तुम्हारा
सुन जगती का क्रदन ?
क्षुधित व्यथित मानव रोता
जीवन पथ हारा
सह दुःसह उत्पीड़न !

छोड़ स्वर्ण पिजर
न निकल आओगी बाहर
खोल वश अवगुंठन !
युग युग से दुख कातर
द्वार खड़े नारी नर
देते तुम्हे निमन्त्रण !
जग प्रागण मे क्या न करोगी तुम जन हित अभिसार ?
कुल वधुओ सी अयि सलज, सुकुमार !
क्या न बिछाओगी जन पथ पर
स्नेह सुरभि मय
पलक पँखड़ियो के दल ?
स्निग्ध दृष्टि से जन मन हर
आँचल से ढँक दोगी न शूल चय ?
जर्जर मानव पदतल !

क्या न करोगी जन स्वागत
सस्मित मुख से ?
होने को आज युगांतर !
शोषित दलित हो रहे जाग्रत,
उनके सुख से
समुच्छ्वसित क्या नहीं तुम्हारा अंतर ?
क्या न, विजय से फूल बनोगी तुम जन उर का हार ?
कुल वधुओं सी अयि सलज्ज सुकुमार !

हाय, नहीं करुणा ममता है मन में कहीं तुम्हारे !
तुम्हें बुलाते
रोते गाते
युग युग से जन हारे।
ऊँची डाली से तुम क्षण भर
नहीं उतर सकती जन भू पर !
फूली रहती
भूली रहती
शोभा ही के मारे।

केवल हास विलास मयी तुम !
केवल मनोभिलाप मयी तुम !
विभव भोग उल्लास मयी तुम !
तुमको अपनाने के सारे
व्यर्थ प्रयत्न हमारे।
वधिरा तुम निष्ठुरा,—जनों की विफल सकल मनुहार !
कुल वधुओं सी अयि सलज्ज सुकुमार।

फरवरी '४०]

कला के प्रति

तुम भाव प्रवण हो।

जीवन प्रिय हो, सहनशील, सहृदय हो, कोमल मन हो।
ग्राम तुम्हारा वास रूढ़ियों का गढ़ है चिर जर्जर,
उच्च वंश मर्यादा केवल स्वर्ण-रत्नप्रभ पिंजर।
जीर्ण परिस्थितियाँ ये तुम मे आज हो रहीं बिम्बित
सीमित होती जाती हो तुम, अपने ही में अवसित।
तुम्हें तुम्हारा मधुर शील कर रहा अजान पराजित,
वृद्ध हो रही हो तुम प्रतिदिन, नहीं हो रही विकसित।

नारी की सुंदरता पर मैं होता नहीं विमोहित,
शोभा का ऐश्वर्य मुझे करता अवश्य आनंदित।
विशद स्त्रीत्व का ही मै मन में करता हूँ नित पूजन,
जब आभा देही नारी आह्लाद प्रेम कर वर्षण
मधुर मानवी की महिमा से भू को करती पावन।

तुम मे सब गुण हैं : तोड़ो अपने भय कल्पित बंधन,
जड़ समाज के कर्दम से उठकर सरोज सी ऊपर
अपने अंतर के विकास से जीवन के दल दो भर।
सत्य नहीं बाहर : नारी का सत्य तुम्हारे भीतर,
भीतर ही से करो नियंत्रित जीवन को, छोड़ो डर।

दिसम्बर '३९]

स्त्री

यदि स्वर्ग कहीं है पृथ्वी पर, तो वह नारी उर के भीतर,
दल पर दल खोल हृदय के स्तर
जब बिठलाती प्रसन्न होकर
वह अमर प्रणय के शतदल पर !

मादकता जग में कहीं अगर, वह नारी अधरों में सुखकर,
क्षण में प्राणों की पीड़ा हर,
नव जीवन का दे सकती वर
वह अधरों पर धर मदिराधर।

यदि कहीं नरक है इस भू पर, तो वह भी नारी के अंदर,
वासनावर्त में डाल प्रखर
वह अंध गर्त में चिर दुस्तर
नर को ढकेल सकती सत्वर !

जनवरी '४०]

आधुनिका

पशुओं से मृदु चर्म, पक्षियों से ले प्रिय रोमिल पर,
ऋतु कुसुमों से सुरँग सुरुचिमय चित्र वस्त्र ले सुंदर,
सुभग रूज़, लिप स्टिक, ब्रौ स्टिक, पौडर से कर मुख रंजित,
अंगराग, क्यूटेक्स, अलक्तक से बन नख शिख शोभित,
'सागर तल से ले मुक्ताफल, खानों से मणि उज्वल',
रजत स्वर्ण में अंकित तुम फिरती अप्सरि सी चंचल।

शिक्षित तुम संस्कृत, युग के सत्याभासों मे पोषित,
समकक्षिणी नरों की तुम, निज द्वन्द्व मूल्य पर गर्वित।
नारी की सौन्दर्य मधुरिमा औ' महिमा से मंडित,
तुम नारी उर की विभूति से, हृदय सत्य से वंचित!
प्रेम, दया, सहृदयता, शील क्षमा, पर दुख कातरता,
तुममें तप, संयम, सहिष्णुता नहीं त्याग, तत्परता।

लहरी सी तुम चपल लालसा श्वास वायु से नर्तित,
तितली सी तुम फूल फूल पर मँडराती मधुक्षण हित!
मार्जारी तुम, नहीं प्रेम को करती आत्म समर्पण,
तुम्हे सुहाता रंग प्रणय, धन पद मद, आत्म प्रदर्शन!
तुम सब कुछ हो, फूल, लहर, तितली, विहगी, मार्जारी,
आधुनिके, तुम नहीं अगर कुछ, नहीं सिर्फ तुम नारी!

फ़रवरी' ४०]

मज़दूरनी के प्रति

नारी की संज्ञा भुला, नरो के सग बैठ,
चिर जन्म सुहृद सी जन हृदयों में सहज पैठ,
जो बँटा रही तुम जग जीवन का काम काज
तुम प्रिय हो मुझे : न छूती तुमको काम लाज।

सर से आँचल खिसका है,—धूल भरा जूड़ा,—
अधखुला वक्ष,— ढोती तुम सिर पर धर कूड़ा;
हँसती, बतलाती सहोदरा सी जन जन से,
यौवन का स्वास्थ्य झलकता आतप सा तन से।

कुल वधू सुलभ संरक्षणता से हो वंचित,
निज बंधन खो, तुमने स्वतंत्रता की अर्जित।
स्त्री नहीं, आज मानवी बन गई तुम निश्चित,
जिसके प्रिय अंगों को छू अनिलातप पुलकित!

निज द्वन्द्व प्रतिष्ठा भूल, जनों के बैठ साथ,
जो बँटा रही तुम काम काज मे मधुर हाथ,
तुमने निज तन की तुच्छ कचुकी को उतार
जग के हित खोल दिए नारी के हृदय द्वार!

फ़रवरी' ४०]

नारी

हाय, मानवी रही न नारी लज्जा से अवगुंठित,
वह नर की लालस प्रतिमा, शोभा सज्जा से निर्मित !
युग युग की वंदिनी, देह की कारा में निज सीमित,
वह अदृश्य अस्पृश्य विश्व को, गृह पशु सी ही जीवित !

सदाचार की सीमा उसके तन से है निर्धारित,
पूत योनि वह : मूल्य चर्म पर केवल उसका अंकित;
अंग अंग उसका नर के वासना चिह्न से मुद्रित,
वह नर की छाया, इंगित संचालित, चिर पद लुंठित !

वह समाज की नहीं इकाई,—शून्य समान अनिश्चित,
उसका जीवन मान मान पर नर के है अवलंबित।
मुक्त हृदय वह स्नेह प्रणय कर सकती नहीं प्रदर्शित,
दृष्टि, स्पर्श संज्ञा से वह होजाती सहज कलंकित !
योनि नहीं है रे नारी, वह भी मानवी प्रतिष्ठित,
उसे पूर्ण स्वाधीन करो, वह रहे न नर पर अवसित।
द्वन्द्व क्षुधित मानव समाज पशु जग से भी है गर्हित,
नर नारी के सहज स्नेह से सूक्ष्म वृत्ति हों विकसित।

आज मनुज जग से मिट जाए कुत्सित, लिंग विभाजित
नारी नर की निखिल क्षुद्रता, आदिम मानों पर स्थित।
सामूहिक-जन-भाव-स्वास्थ्य से जीवन हो मर्यादित,
नर नारी की हृदय मुक्ति से मानवता हो संस्कृत।

दिसम्बर' ३९]

द्वन्द्व प्रणय

धिक् रे मनुष्य, तुम स्वच्छ, स्वस्थ, निश्छल चुंबन
अंकित कर सकते नहीं प्रिया के अधरों पर ?
मन में लज्जित, जन से शंकित, चुपके गोपन
तुम प्रेम प्रकट करते हो नारी से, कायर !
क्या गुह्य, क्षुद्र ही बना रहेगा, बुद्धिमान !
नर नारी का स्वाभाविक, स्वर्गिक आकर्षण ?
क्या मिल न सकेंगे प्राणों से प्रेमार्त प्राण
ज्यों मिलते सुरभि समीर, कुसुम अलि, लहर किरण ?
क्या क्षुधा तृषा औ' स्वप्न जागरण सा सुन्दर
है नहीं काम भी नैसर्गिक, जीवन द्योतक ?
बन जाता अमृत न देह-गरल छू प्रेम-अधर ?
उज्वल करता न प्रणय सुवर्ण, तन का पावक ?

पशु पक्षी से फिर सीखो प्रणय कला, मानव !
जो आदि जीव, जीवन संस्कारों से प्रेरित,
खग युग्म गान गा करते मधुर प्रणय अनुभव,
मृग मिथुन शृंग से अंगों को कर मृदु मर्दित !
मत कहो मांस की दुर्बलता, हे जीव प्रवर !
है पुण्य तीर्थ नर नारी जन का हृदय मिलन,
आनंदित होओ, गर्वित, यह जीवन का वर,
गौरव दो द्वन्द्व प्रणय को, पृथ्वी हो पावन !

दिसंबर '३९]

१६४०

समर भूमि पर मानव शोणित से रंजित निर्भीक चरण धर,
अभिनंदित हो दिग् घोषित तोपों के गर्जन से प्रलयंकर,
शुभागमन नव वर्ष कर रहा, हालाडोला पर चढ़ दुर्धर,
बृहद् विमानों के पंखों से बरसा कर विष वह्नि निरंतर !

इधर अड़ा साम्राज्यवाद, शत शत विनाश के ले आयोजन,
उधर प्रतिक्रिया रुद्ध शक्तियाँ क्रुद्ध दे रहीं युद्ध निमंत्रण !
सत्य न्याय के बाने पहने, सत्व लुब्ध लड़ रहे राष्ट्रगण,
सिन्धु तरंगों पर क्रय विक्रय स्पर्धा उठ गिर करती नर्तन !
धू-धू करती वाष्प शक्ति, विद्युत ध्वनि करती दीर्ण दिगंतर,
ध्वंस भ्रंश करते विस्फोटक धनिक सभ्यता के गढ़ जर्जर !
तुमुल वर्ग संघर्ष में निहित जनगण का भविष्य लोकोत्तर,
इंद्रचाप पुल सा नव वत्सर शोभित प्रलय प्रभ मेघों पर !

आओ हे दुर्धर्ष वर्ष ! लाओ विनाश के साथ नव सृजन,
/ विंश शताब्दी का महान विज्ञान ज्ञान ले, उत्तर यौवन !

जनवरी '४०]

सूत्रधर

तुम धन्य, वस्त्र व्यवसाय कला के सूत्रधार,
वर्बर जन के तन से हर वल्कल, चर्म भार,
तुमने आदिम मानव की हर नव द्वन्द्व लाज,
बन शीत ताप हित कवच, बचाया जन समाज।
तकली, चरखे, करघे से अब आधुनिक यंत्र
तुम बने : यंत्र बल पर ही मानव लोक तंत्र
स्थापित करने को अब : मानवता का विकास
यंत्रों के संग हुआ, सिखलाता नृ-इतिहास।

जड़ नहीं यंत्र : वे भाव रूप : संस्कृति द्योतक :
वे विश्व शिराएँ, निखिल सभ्यता के पोषक।
रेडियो, तार औ' फ़ोन,—वाष्प, जल, वायु यान,
मिट गया दिशावधि का जिनसे व्यवधान मान,—
धावित जिनमें दिशि दिशि का मन,—वार्ता, विचार,
संस्कृति, संगीत,—गगन में झंकृत निराकार।

जीवन सौन्दर्य प्रतीक यंत्र : जन के शिक्षक :
युग क्रांति प्रवर्तक औ' भावी के पथ दर्शक।
वे कृत्रिम, निर्मित नहीं, जगत क्रम में विकसित,
मानव भी यंत्र, विविध युग स्थितियों में वर्धित।
दार्शनिक सत्य यह नहीं,—यंत्र जड़, मानव कृत,
वे हैं अमूर्त : जीवन विकास की कृति निश्चित।

फ़रवरी '४०]

संस्कृति का प्रश्न

राजनीति का प्रश्न नहीं रे आज जगत के सन्मुख,
अर्थ साम्य भी मिटा न सकता मानव जीवन के दुख।
व्यर्थ सकल इतिहासो, विज्ञानो का सागर मथन,
वहाँ नहीं युग लक्ष्मी, जीवन सुधा, इंदु जन मोहन!

आज वृहत् सांस्कृतिक समस्या जग के निकट उपस्थित,
खड मनुजता को युग युग की होना है नव निर्मित,
विविध जाति, वर्गों, धर्मों को होना सहज समन्वित,
मध्य युगों की नैतिकता को मानवता मे विकसित।

जग जीवन के अतर्मुख नियमो से स्वयं प्रवर्तित
मानव का अवचेतन मन हो गया आज परिवर्तित।
वाह्य चेतनाओ मे उसके क्षोभ, क्राति, उत्पीड़न,
विगत सभ्यता दंत शून्य फणि सी करती युग नर्तन!

व्यर्थ आज राष्ट्रो का विग्रह, औ' तोपों का गर्जन,
रोक न सकते जीवन की गति शत विनाश आयोजन।
नव प्रकाश मे तमस युगों का होगा स्वय निमज्जित,
प्रतिक्रियाएँ विगत गुणों की होंगी शनैः पराजित!

जनवरी '४०]

सांस्कृतिक हृदय

कृषि युग से वाहित मानव का सांस्कृतिक हृदय
जो गत समाज की रीति नीतियों का समुदय,
आचार विचारों में जो बहु देता परिचय,
उपजाता मन में सुख दुख, आशा, भय, संशय,
जो भले बुरे का ज्ञान हमें देता निश्चित
सामंत जगत में हुआ मनुज के वह निर्मित।

उन युग स्थितियों का आज दृश्य पट परिवर्तित,
प्रस्तर युग की सभ्यता हो रही अब अवसित।
जो अंतर् जग था वाह्य जगत पर अवलंबित
वह बदल रहा युगपत् युग स्थितियों से प्रेरित।
बहु जाति धर्म औ' नीति कर्म मे पा विकास
गत सगुण आज लय होने को : औ' नव प्रकाश
नव स्थितियों के सर्जन से हो अब शनैः उदय
बन रहा मनुज की नव आत्मा, सांस्कृतिक हृदय।

फ़रवरी '४०]

भारत ग्राम

सारा भारत है आज एक रे महा ग्राम !

हैं मानचित्र ग्रामो के, उसके प्रथित नगर
ग्रामीण हृदय मे उसके शिक्षित संस्कृत नर,
जीवन पर जिनका दृष्टि कोण प्राकृत, बर्बर,
वे सामाजिक जन नहीं, व्यक्ति हैं अहंकाम।

है वही क्षुद्र चेतना, व्यक्तिगत राग द्वेष,
लघु स्वार्थ वही, अधिकार सत्व तृष्णा अशेष,
आदर्श, अंधविश्वास वही,—हो सभ्य वेश,
संचालित करते जीवन जन का क्षुधा काम।

वे परंपरा प्रेमी, परिवर्तन से विभीत,
ईश्वर परोक्ष से ग्रस्त, भाग्य के दास क्रीत,
कुल जाति कीर्ति प्रिय उन्हे, नहीं मनुजत्व प्रीत,
भव प्रगति मार्ग में उनके पूर्ण धरा विराम।

लौकिक से नहीं, अलौकिक से है उन्हे प्रीति,
वे पाप पुण्य संत्रस्त, कर्म गति पर प्रतीति
उपचेतन मन से पीड़ित, जीवन उन्हे ईति.
है स्वर्ग मुक्ति कामना, मर्त्य से नहीं काम।

आदिम मानव करता अब भी जन में निवास,
सामूहिक सत्ता का जिसकी न हुआ विकास,
जन जीवी जन दारिद्र्य दुःख के बने ग्रास,
परवशा यहाँ की चर्म सती ललना ललाम !

जन द्विपद : कर सके देश काल को नहीं विजित,
वे वाष्प वायु यानो से हुए नहीं विकसित,
वे वर्ग जीव, जिनसे जीवन साधन अधिकृत,
लालायित करते उन्हे वही धन, धरणि, धाम।

ललकार रहा जग को भौतिक विज्ञान आज,
मानव को निर्मित करना होगा नव समाज,
विद्युत् औ' वाष्प करेंगे जन निर्माण काज,
सामूहिक मगल हो समान : समदृष्टि राम!

दिसंबर '३९]

स्वप्न और सत्य

आज भी सुंदरता के स्वप्न
हृदय में भरते मधु गुंजार,
वर्ग कवियों ने जिनको गूँथ
रचा भू स्वर्ग, स्वर्ण संसार !

आज भी आदर्शों के सौध
मुग्ध करते जन मन अनजान,
देश देशों के कालि' दास
गा चुके जिनके गौरव गान !

मुहम्मद, ईसा, मूसा, बुद्ध
केन्द्र संस्कृतियों के, श्री राम,
हृदय में श्रद्धा, संभ्रम, भक्ति
जगाते,—विकसित व्यक्ति ललाम !

धर्म, बहु दर्शन, नीति, चरित्र
सूक्ष्म चिर का गाते इतिहास,
व्यवस्थाएँ, संस्थाएँ, तन्त्र
बाँधते मन वन स्वर्णिम पाश !

आज पर, जग जीवन का चक्र
दिशा गति बदल चुका अनिवार,
सिन्धु में जन युग के उद्दाम
उठ रहा नव्य शक्ति का ज्वार !

आज मानव जीवन का सत्य
धर रहा नए रूप आकार,
आज युग का गुण है—जन-रूप,
रूप-जन संस्कृति के आधार !

स्थूल, जन आदर्शों की सृष्टि
कर रही नव संस्कृति निर्माण,
स्थूल—युग का शिव, सुंदर, सत्य,
स्थूल ही सूक्ष्म आज, जन-प्राण !

दिसंबर '३९]

बापू !

चरमोन्नत जग में जब कि आज विज्ञान ज्ञान,
बहु भौतिक साधन, यंत्र यान, वैभव महान,
सेवक हैं विद्युत् वाष्प शक्ति : धन बल नितांत,
फिर क्यों जग मे उत्पीड़न ? जीवन यों अशात ?

मानव ने पाई देश काल पर जय निश्चय,
मानव के पास नहीं मानव का आज हृदय !
चर्वित उसका विज्ञान ज्ञान : वह नहीं पचित :
भौतिक मद से मानव आत्मा हो गई विजित !
है श्लाघ्य मनुज का भौतिक संचय का प्रयास,
मानवी भावना का क्या पर उसमें विकास ?
चाहिये विश्व को आज भाव का नवोन्मेष,
मानव उर मे फिर मानवता का हो प्रवेश !

बापू ! तुम पर हैं आज लगे जग के लोचन,
तुम खोल नहीं जाओगे मानव के बंधन ?

दिसंबर '३९]

अहिंसा

बंधन बन रही अहिंसा आज जनों के हित,
वह मनुजोचित निश्चित, कब ? जब जन हों विकसित।
भावात्मक आज नहीं वह, वह अभाव वाचक :
उसका भावात्मक रूप प्रेम केवल सार्थक।
हिंसा विनाश यदि, नहीं अहिंसा मात्र सृजन,
वह लक्ष्य शून्य अब : भर न सकी जन में जीवन,
निष्क्रिय : उपचेतन ग्रस्त : 'एक देशीय परम,
सांस्कृतिक प्रगति से रहित आज, जन हित दुर्गम।

हैं सृजन विनाश सृष्टि के आवश्यक साधन
यह प्राणि शास्त्र का सत्य नहीं, जीवन दर्शन।
इस द्वन्द्व जगत में द्वन्द्वातीत निहित संगति,
है जीव जीव का जीवन',—रोक न सका प्रगति।
भव तत्व प्रेम : साधन हैं उभय विनाश, सृजन
साधन बन सकते नहीं सृष्टि गति में बंधन !

फ़रवरी '४०]

पतझर

झरो, झरो, झरो!
जंगम जग प्रांगण में,
जीवन संघर्षण में
नव युग परिवर्तन मे
मन के पीले पत्तो!
झरो, झरो, झरो!

सन् सन् शिशिर समीरण
देता क्रांति निमंत्रण!
यह जीवन विस्मृति क्षण,—
जीर्ण जगत के पत्तो!
टरो, टरो, टरो!

कँप कर, उड़ कर, गिर कर,
दब कर, पिस कर, चर मर,
मिट्टी में मिल निर्भर,
अमर बीज के पत्तो!
मरो, मरो, मरो!

तुम पतझर, तुम मधु—जय!
पीले दल, नव किसलय,
तुम्हीं सृजन, वर्धन, लय,
आवागमनी पत्तो!
सरो, सरो, सरो!

जाने से लगता भय ?
जग में रहना सुखमय ?
फिर आओगे निश्चय !
निज चिरत्व से पत्तो !
डरो, डरो, डरो !

जन्म मरण से होकर,
जन्म मरण को खोकर,
स्वप्नों में जग सोकर,
मधु पतझर के पत्तो !
तरो, तरो, तरो !

फ़रवरी '४०]

उद्बोधन

खोलो वासना के वसन,
नारी नर !

वाणी के बहु रूप, बहु वेश, बहु विभूषण
खोलो सब, बोलो सब
एक वाणी,—एक प्राण, एक स्वर !
वाणी केवल भावों—विचारों की वाहन,
खोलो भेद भावना के मनोवसन
नारी नर !

खोलो जीर्ण विश्वासों, संस्कारो के शीर्ण वसन,
रूढ़ियों, रीतियों, आचारों के अवगुंठन,
छिन्न करो पुरातन संस्कृतियों के जड़ बंधन,—
जाति वर्ण, श्रेणि वर्ग से विमुक्त जन नूतन
विश्व सभ्यता का शिलान्यास करे भव शोभन ;
देश राष्ट्र मुक्त धरणि पुण्य तीर्थ हो पावन।
मोह पुरातन का वासना है, वासना दुस्तर,
खोलो सनातनता के शुष्क वसन,
नारी नर !

समरांगण बना आज मानव उपचेतन मन,
नाच रहे युग युग के प्रेत जहाँ छाया-तन ;
धर्म वहाँ, कर्म वहाँ, नीति रीति, रूढ़ि चलन,
तर्क वाद, सत्व न्याय, शास्त्र वहाँ, षड् दर्शन ;

खंड खंड में विभक्त विश्व चेतना प्रांगण,
भित्तियाँ खड़ी हैं वहाँ देश काल की दुर्धर!
ध्वंस करो, भ्रंश करो, खँडहर हैं ये खँडहर,
खोलो विगत सभ्यता के क्षुद्र वसन
नारी नर!

नव चेतन मुनज आज करे धरणि पर विचरण,
मुक्त गगन में समूह शोभन ज्यों तारागण;
प्राणों प्राणों में रहे ध्वनित प्रेम का स्पंदन,
जन से जन में रे वहे, मन से मन में जीवन;
मानव हो मानव—हो मानव में मानवपन
अन्न वस्त्र से प्रसन्न, शिक्षित हो सर्व जन;
सुंदर हों वेश, सब के निवास हों सुंदर,
खोलो परंपरा के कुरूप वसन,
नारी नर!

दिसंबर '३१]

नव इंद्रिय

नव जीवन की इंद्रिय दो हे, मानव को,
नव जीवन की नव इद्रिय,
नव मानवता का अनुभव कर सके मनुज
नव चेतनता से सक्रिय !

स्वर्ग खंड इस पुण्य भूमि पर
प्रेत युगों के करते ताडव,
भव मानव का मिलन तीर्थ
बन रहा रक्त चंडी का रौरव !
अनिर्वाप्य साम्राज्य लालसा
अगणित नर आहुति देती नव,
जाति वर्ग औ' देश राष्ट्र में
आज छिड़ा प्रलयंकर विप्लव !

नव युग की नव आत्मा दो पशु मानव को,
नव जीवन की नव इद्रिय,
भव मानवता का साम्राज्य बने भू पर
दश दिशि के जनगण को प्रिय।

सितंबर '३९]

कवि किसान

जोतो हे कवि, निज प्रतिभा के
फल से निष्ठुर मानव अंतर,
चिर जीर्ण विगत की खाद डाल,
जन-भूमि बनाओ सम सुंदर।

बोओ, फिर जन मन में बोओ,
तुम ज्योति पंख नव बीज अमर,
जग जीवन के अंकुर हँस हँस
भू को हरीतिमा से दे भर।
पृथ्वी से खोद निराओ, कवि,
मिथ्या विश्वासों के तृण खर,
सींचो अमृतोपम वाणी की
धारा से मन, भव हो उर्वर।

नव मानवता का स्वर्ण-शस्य-
सौन्दर्य लवाओ जन-सुखकर,
तुम जग गृहिणी, जीवन किसान,
जन हित भंडार भरो निर्भर।

जनवरी '४०]

वाणी !

तुम वहन कर सको जन मन मे मेरे विचार,
वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार ।

भव कर्म आज युग की स्थितियों से है पीड़ित,
जग का रूपातर भी जनैक्य पर अवलबित,

तुम रूप कर्म से मुक्त, शब्द के पंख मार,
कर सको सुदूर मनोनभ में जन के विहार,
वाणी मेरी, चाहिए तुम्हे क्या अलंकार ।

चित् शून्य,—आज जग, नव निनाद से हो गुजित,
मन जड़,—उसमें नव स्थितियों के गुण हों जाग्रत,

तुम जड़ चेतन की सीमाओं के आर पार
झंकृत भविष्य का सत्य कर सको स्वराकार,
वाणी मेरी, चाहिए तुम्हे क्या अलंकार ।

युग कर्म शब्द, युग रूप शब्द, युग सत्य शब्द,
शब्दित कर भावी के सहस्र शत मूक अब्द,

ज्योतित कर जन मन के जीवन का अधकार,
तुम खोल सको मानव उर के निःशब्द द्वार,
वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलकार ।

फ़रवरी '४०]

नक्षत्र

[अपनी कॉटेज के प्रति]

मेरे निकुंज, नक्षत्र वास !
इस छाया मर्मर के वन में
तू स्वप्न नीड़ सा निर्जन में
है बना प्राण पिक का विलास !

लहरी पर दीपित ग्रह समान
इस भू उभार पर भासमान,
तू बना मूक चेतनावान
पा मेरे सुख दुख, भाव' च्छ्वास !

आती जग की छवि स्वर्ण प्रात,
स्वप्नों की नभ सी रजत रात,
भरती दश दिशि की चारवात
तुझमें वन वन की सुरभि साँस !

कितनी आशाएँ, मनोल्लास,
संकल्प महत्, उच्चाभिलाष,
तुझमे प्रतिक्षण करते निवास,—
है मौन श्रेय साधन प्रयास !

तू मुझे छिपाए रह अजान
निज स्वर्ण मर्म में खग समान,
होगा अग जग का कंठ गान
तेरे इन प्राणों का प्रकाश !
मेरे निकुंज, नक्षत्र वास !

१९३२]

आँगन से—

रोमाञ्चित हो उठे आज नव वर्षा के स्पर्शों से!
छोटे से आँगन मेरे, तुम रीते थे वर्षों से!
नव दूर्वा के हरे प्ररोहों से अब भरे मनोहर
मरकत के टुकड़े से लगते तुम विजड़ित भू उर पर!

जन निवास से दूर, नीड़ मे वन तरुओं के छिपकर,
भू उरोज-से उभरे इस एकात मौन भीटे पर
कोमल शाद्वल अंचल पर लेटा मै स्मित चिन्तापर,
जीवन की हँसमुख हरीतिमा को देखूँ आँखे भर!

एक ओर गहरी खाई मे सोया तरुओं का तम
केका रव से चकित, बखेरे सुख स्वप्नों का संभ्रम!
और दूसरी ओर मंजरित आम्र विपिन कर मुखरित
मधु मे पिक, पावस मे पी-खग करे हृदय को हर्षित!

हरित भरित वन नीम उच्छ्वसित शाखाओ का विह्वल
वक्षभार, हाँ, रहे झुकाए मेरे ऊपर कोमल!

अगस्त '३९]

याद

विदा हो गई साँझ, विनत मुख पर झीना आँचल धर,
मेरे एकाकी आँगन में मौन मधुर स्मृतियाँ भर!
वह केसरी दुकूल अभी भी फहरा रहा क्षितिज पर,
नव असाढ़ के मेघों से घिर रहा बराबर अंबर!

मैं बरामदे मे लेटा, शय्या पर, पीड़ित अवयव,
मन का साथी बना बादलों का विषाद है नीरव!
सक्रिय यह सकरुण विषाद,—मेघो से उमड़ उमड़कर
भावी के बहु स्वप्न, भाव बहु व्यथित कर रहे अतर!

मुखर विरह दादुर पुकारता उत्कठित भेकी को,
बर्हभार से मोर लुभाता मेघ-मुग्ध केकी को;
आलोकित हो उठता सुख से मेघो का नभ चंचल,
अतरतम में एक मधुर स्मृति जग जग उठती प्रतिपल!

कंपित करता वक्ष धरा का घन गभीर गर्जन स्वर,
भू पर ही आगया उतर शत धाराओ मे अबर!
भीनी भीनी भाप सहज ही साँसों मे घुलमिल कर
एक और भी मधुर गंध से हृदय दे रही है भर!

नव असाढ की संध्या मे, मेघों के तम मे कोमल,
पीड़ित एकाकी शय्या पर, शत भावो से विह्वल,
एक मधुरतम स्मृति पल भर विद्युत सी जलकर उज्वल
याद दिलाती मुझे हृदय में रहती जो तुम निश्चल!

जुलाई '३९]

गुलदावदी

शय्या ग्रस्त रहा मैं दो दिन, फूलदान में हँसमुख
चद्र मल्लिका के फूलो को रहा देखता सन्मुख।
गुलदावदी कहूँ,—कोमलता की सीमा ये कोमल!
शैशव स्मिति इनमे जीवन की भरी स्वच्छ, सद्योज्वल!

पुज पुंज उल्लास, लीन लावण्य राशि में अपने,
मृदु पखड़ियो के पलको पर देख रहा हो सपने!
उज्वल सूरज का प्रकाश, ज्योत्स्ना भी उज्वल, शीतल,
उज्वल सौरभ-अनिल, और उज्वल निर्मल सरसी जल;
इन फूलो की उज्वलता छू लेती अंतर के स्तर,
मधुर अवयवो मे बँध वह ज्यों हो आगई निकटतर!
मृदुल दलो के अगजाल से फूट त्वचा-कोमल सुख
सहृदय मानवीय स्पर्शों से हर लेता मन का दुख!

तृण तृण में औ' निखिल प्रकृति में जीवन की है क्षमता,
पर मानव का हृदय लुभाती नानव करुणा ममता!

दिसंबर '३९]

विनय

विज्ञान ज्ञान बहु सुलभ, सुलभ बहु नीति धर्म,
संकल्प कर सके जन, इच्छा अनुरूप कर्म।
उपचेतन मन पर विजय पा सके चेतन मन,
मानव को दो यह शक्ति : पूर्ण जग के कारण !

मनुजो की लघु चेतना मिटे, लघु अहंकार,
नव युग के गुण से विगत गुणो का अधकार।
हो शात जाति विद्वेष, वर्ग गत रक्त समर,
हों शात युगो के प्रेत, मुक्त मानव अतर।
संस्कृत हों सब जन, स्नेही हो, सहृदय, सुंदर,
संयुक्त कर्म पर हो सयुक्त विश्व निर्भर।
राष्ट्रों से राष्ट्र मिले, देशों से देश आज,
मानव से मानव,—हो जीवन निर्माण काज।

हो धरणि जनो की, जगत स्वर्ग,—जीवन का घर,
नव मानव को दो, प्रभु ! भव मानवता का वर !

फ़रवरी '४०]